तरुण सीरीज़ नं० ११

महफ़िल

और दूसरे शब्द-चित्र

लेखक

श्री 'रसिक', एम० ए०

तरुण कार्यालय, इलाहाबाद

प्रकाशक
कृष्णानन्दन प्रसाद
तरुण कार्यालय, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
मूल्य एक रुपया

मुद्रक
मगनकृष्ण दीक्षित
दीक्षित प्रेस, इलाहाबाद

दो शब्द

यह संग्रह अपने ढंग का निराला है। विविध विषयों पर जीती-जागती भाषा में टिप्पणियाँ इसकी विशेषता है। विषयों के चुनाव में आधुनिकता और वर्णन में विशेष उद्देश्यों की पूर्ति का ध्यान रक्खा गया है। शैली इतनी रोचक और हृदय-ग्राही है कि संग्रह विचारोत्पादक होते हुए भी महफ़िल की सजीवता और चापल्य-मिश्रित मनोरंजकता से भरा-पूरा है। इसमें संगृहीत किसी भी रचना की चार-छः पंक्तियाँ पढ़ लेने पर पाठक उसे समाप्त किये बिना नहीं रह सकते। इस दृष्टि-कोण से शब्द-चित्रों का यह संग्रह कहानी-संग्रह से कम मनो-रंजक न होगा।

लेखक हिन्दी और अँग्रेज़ी भाषाओं के विद्वान हैं, संगीत के भी अच्छे ज्ञाता हैं। संग्रह का महत्व इससे और भी बढ़ जाता है। आशा है पाठक संग्रह को अपनावेंगे और इसका आनन्द लेंगे।

—प्रकाशक

सूची

२८वें पेज में 'गीत क्या बला है ?' की जगह भूल से 'गीता क्या बला है ?' छप गया है। पाठक कृपया इसे सुधार लें। —प्र०

महफ़िल

एक हफ़्ते से समाचार-पत्रों में धूम मची हुई है। दैनिक पत्रों के विद्वान सम्पादकों ने तारीफ़ों के पुल बाँध दिये। लंबे पृष्ठ रंग दिये गये। बस वह समय आ गया। दो ही दिन की बात तो है। फिर देखिये। "पाठकों से निवेदन है कि श्रोता बन कर ही अपनी सहृदयता का प्रमाण दें ·····" कोई लिखता है। बड़े-बड़े अक्षरों में अंग्रेजी के दैनिक-पत्र प्रशंसा में लगे हैं। एक महाशय बोले, "ऐसा विराट आयोजन तो अपने ढंग का निराला होगा। देखिये, क्या आनन्द आता है!" जिनसे यह बात कह रहे थे वे झुँझला पड़े। कहने लगे, "क्या होगा, कुछ बताइये तो?" "अरे आपको नहीं मालूम? सारे शहर में इसकी धूम है। कौन इसे नहीं जानता? अख़बारों को देखिये" वे ही महाशय बोले। यहाँ अख़बार कौन पढ़ता था। इतवार को "तूफ़ान" के आफ़िस के सामने दीवारों और पेड़ों पर गोंद से चिपके हुये पन्नों का निरीक्षण अवश्य कर लिया करते थे। ख़ैर, ज़्यादा पूँछ-ताँछ पर पता चला कि बात खतरनाक नहीं है। न तो जापानी कम्बख़्त आ रहे हैं और न चौंकाई शेक और न आगा खां। और यह भी नहीं है कि किसी के यहाँ कोई डाका पड़ेगा या आग लगेगी। कोई संगीन मामला नहीं है। सिर्फ़ यह है कि दो दिन के बाद याने रविवार के दिन शहर के रेडिओ स्टेशन से एक बड़ा जोरदार प्रोग्राम "महफ़िल" ब्राडकास्ट किया जायेगा। जान में जान आई। इतनी सी बात और इतनी धूम! गेहूँ पाँच सेर का हो गया था तब भी इतनी हलचल न थी। उस दिन मशहूर नेता मुंशी साहब आये थे

तब किसी भकुये ने परवाह न की। यहाँ तक कि अभी उस दिन जब मिर्ज़ा ख़लील उर्फ़ 'बख़ील' ने दरिद्रों को रोटियाँ बँटवाईं तब भी यह हलचल न थी। हिन्दी के डेली फ़लाने और उर्दू के डेली ढिकाने की लंबी-लंबी संपादकीय टिप्पणियाँ भी इसी विषय पर निकलीं और इनकी देखा-देखी शहर के सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ी दैनिक "हीरो" में एक रोचक कार्टून भी निकला।

ख़ैर, प्रतीक्षा करते-करते वह दिन आया। मिस पी० जिनके गीतों ने सैकड़ों नवयुवकों के दिलों में एक मीठी सी गुदगुदी पैदा कर रक्खी थी, अपने शृंगार में निमग्न थीं। एक आलीशान कोठी के एक कमरे के अन्दर आइने के सामने खड़ी हो कर पी० ने अपने सौन्दर्य पर रीझ कर मुस्कुरा दिया। फिर त्योरियाँ बदल गईं, भौंहें तन गईं और आँखों में गुस्सा भर आया। पी० ने चिल्ला कर कहा, "ममी, यहाँ से मेरे नये सेंट की शीशी कौन उठा ले गया। मुझे, आप जानती हैं, रेडियो स्टेशन जाना है। आज मेरा गाना है।" पी० की सेंट की शीशी ढूंढ़ने से भी न मिली। "कहाँ गई, भूत ले गया, हे परमात्मा! सेंट की शीशी कहाँ गई ?" ख़ैर. फ़ैसला हुआ कि दूसरा सेंट लगा लिया जाय। पी० ने सजने में कोई कमी न की। पाउडर लगाती जाती थी और अपने गीत को गुनगुनाती जाती थी। "ममी, देखना यह सारी तो ठीक है ? शोफ़र से कह दो मोटर ले आये।" उधर नर्गिस ने भी अपनी नोक-पलक सँभाली। चार सौ वाली सारी पहनी, बाल सँवारे। बाटा के यहाँ की सुन्दर चप्पल निकाली। आँखों में सुरमे की गहरी लकीर खिंच गई। रात की जागी निंदासी आँखें जगमगा उठीं। कड़े पहन, बालियाँ डाल और हीरे की अँगूठी पहन कर बोली "अम्मा, ज़रा अमानत से कह देना, ताँगा ले आये।" अमानत तम्बाक़

लेने गया था। "देर हो ही जाती है। सुलफ़ा यहाँ मिलता कहाँ है ? ठहर जाओ बेटी, ज़रा ग़म करो।" नर्गिस बेहज़ाद की ग़ज़ल धीरे-धीरे गाने लगी। आज यह ग़ज़ल और एक बनारसी दादरा उसे गाना था। गर्व से हंस पड़ी। उसे याद आया कि एक बार रेडिओ के म्यूज़िक डाइरेक्टर साहब ने जो प्रकांड संगीतज्ञ होने के अलावा बड़े सहृदय और रसिक थे और जिनकी कीर्ति-पताका 'हवा' में उड़ रही थी, उससे कहा था, "नर्गिस बाई, ग़ज़ल गाने में तो आप यकता हैं। क्या कहने हैं!" "आये नहीं बहुत दिनों से। आज ज़रूर पूछूँगी। अम्मा, दो-चार पान तो पनडब्बे में भर दो। वहाँ के पानों से तो अल्लाह बचाये। चूना इस क़दर पड़ता है कि ज़बान कट जाती है। तोबा!"

बम्बई की बेखुद जान इसी समय पैराडाइस होटल में चाय पी रही थीं। बम्बई से ख़ास इसी संगीत के प्रोग्राम के लिए बुलवाई गई थीं। तीन सौ रुपये रोज़ पर आई थीं। साथ में सरंगिया और तबलिया भी आया था। आप ख़ूब गाती थीं और ख़्याल गायकी में तो बहुत ही निपुण थीं। तानें बड़ी साफ़, सुर का लगाव बहुत ही सुंदर और फिरत भी सब से निराली थी। ब्रह्मा ने शरीर पर मांस ही मांस थोप दिया था। गोंदिया से नागपूर जाते हुए एक समय की बात है कि गाड़ी के दरवाजे में बड़ी मुश्किल से भीतर घुस पाई थीं और स्टेशन पर कुहराम मच गया था। दो रुपये रोज़ वाले कमरे में बैठी हुई बेख़ुदजान ने अपने सरंगिये से कहा, "आज इरादा है कोई अछोप राग गाऊँ। बिहाग, भूपाली, केदार गाते-गाते जी दुख गया।" "मगर वहाँ समझेगा कौन ?" "वाह, अरे वहाँ बड़े-बड़े समझदार हैं। समझदार न होते तो मुझे इतनी दूर से क्यों बुलवाते !" "रेडिओ की मोटर आयेगी कि नहीं ?"

"ख़ुदा जाने आती है कि नहीं। ख़ैर, अभी तो वक़्त है। तो फिर यह है कि आज हुसैनी कान्हरा या बिहागड़ा गाऊँगी।" इतना कहकर बेख़ुदजान होटल की चारपाई को चरमराते हुए उठीं और मूं धोने गईं।

मास्टर रशीद भी अपने होटल में बेचैन थे। सैकड़ों मित्रों से कह रक्खा था कि सुनना, आज मेरा रेडिओ पर गाना है। रशीद से कहा गया था कि आज वह एक फ़िल्मी गाना गाये। आवाज़ को दबाकर और कँपाकर जिस समय वह गाता था तो सहगल और पंकज मलिक सामने आ जाते थे। धोबी ने शेरवानी अब तक नहीं दी थी और उधर फ़ाइन लिस्ट में उसका पहला नाम था। अब्बाजान को धोखा दे देकर कब तक पैसे मँगवाना। ख़ैर भई, ख़ुदा का शुक्र है, यह दस रुपये वाला प्रोग्राम तो मिला; कुछ दिन काम तो चलेगा। कमबख़्त धोबी भी यहाँ के मूँ चढ़े हैं। वक़्त पर कपड़े नहीं लाते। यार अहमद, क़सम ख़ुदा कि ग़ुस्सा तो इतना आ रहा है कि बेहूदे का सर तोड़ दूँ। समझते नहीं कमबख़्त कि रेडियो का काम सरकारी है। यह तो गवरमेंट आफ़ इंडिया का एक डिपार्टमेंट है। महमूद मियां चमड़े वाले के लड़के अहमद ने कहा "अमा यार, तो मेरी शेरवानी पहन जाओ।" "मगर यार महमूद, पैजामे में इस्तरी नहीं है।" "तो मेरा पैजामा ले लो।" ख़ैर, उधार के कपड़े पहन कर रशीद ने गड़बड़झाले से ख़रीदा हुआ सात पैसे का रंगीन रुमाल जेब में डाल लिया। बाइसिकिल में पंचर था। ख़ैर, दोस्त अहमद ने अपनी साइकिल भी दी। रशीद बेचारा क्या जानता था कि अहमद ने भी दूसरे से ली हुई चीज़ें उसे दी थीं। उधार दर उधार। मगर रशीद यानी मास्टर रशीद रेडियो स्टार साइकिल पर चढ़ कर हवा हो गया। अब्बाजान की मौत की ख़बर पाकर भी वह इतनी तेज़ी से न उड़ता।

बनारस के मशहूर सितार-मार्तंड और संगीताचार्य तारा बाबू जिन्हें क़ब्ज़ की शिकायत बारों मास रहती थी पीलू की गत के तिहइये ठीक कर रहे थे और उनके मित्र लालता प्रसाद त्रिवेदी तब। पर मात्राएँ गिन रहे थे। तारा बाबू ने खीज कर कहा, "त्रिवेदी जी, तिहइया कुछ ठीक नहीं बैठता। आपने ग़ौर किया?" त्रिवेदी जी ने चार पान के बीड़े खा रक्खे थे। बोलते तो कैसे बोलते। उग़ालदान में मूँ झुका कर बोले "अजी, चलने दीजिए। अब इतनी समझ है किसमें। मैं भी सितार बजाता हूँ और सैकड़ों कान्फ्रेंसें देख डालीं। अजी ये तो बारीक बातें हैं। फिर दस मिनट तो आपको बजाना ही है।" तारा बाबू उँगली पर मात्राओं को गिनते-गिनते परेशान हो गये। "त्रिवेदी जी, रेडिओ के प्रोग्राम में आपको भी चलना होगा।" "तारा बाबू, लड़ाई का जमाना है। बाल-बच्चों को कैसे यहाँ छोड़ दूँ? आप तो अभी इस झगड़े में नहीं फँसे हैं। अच्छा ही है।" तारा बाबू न माने। त्रिवेदी जी की हार हुई। होल्ड-डाल में चप्पल, धोती, अँगोछा, रामायण, मिज़राब डाल दिये गये। ······ख़ैर, आ गये। पहुँच गये। आज शाम को बजाना है मगर तारा बाबू की आज तबीयत ही ठीक नहीं है। "ख़ैर, कोई बात नहीं है" त्रिवेदी जी बोले। "अगर आप बेताले भी हुए तो मैं तबले पर फ़ौरन सम दिखा दूँगा।" अनोखेपुर नाम के मुहल्ले में तारा बाबू और त्रिवेदी जी एक मच्छड़दार कमरे में बैठे हुए रियाज़ कर रहे थे। समय हो गया था मगर तारा बाबू सितार न छोड़ते थे। रेल की रात की जगन ने त्रिवेदी जी को बौखला दिया था। कुरते के बटन बनारस भूल आये। अब क्या होगा? "अरे वख़्त हो गया है, ज़रा दौड़ कर बाज़ार से बटन तो ले आना भइया। दौड़ते जाना, दौड़ते

आना।" तारा बाबू गुसलख़ाने में थे। वहाँ भी तिहइये गिन रहे थे। कहाँ से उठूँ, पौन से या आधे से ?

उधर जब मिर्ज़ापुर की मैना बाई, अंबाले की इशरत जान और देहली की ख़ुशबख़्त जान ताँगों पर सवार होकर रेडियो स्टेशन की तरफ़ जा रही थीं तो भारतवर्ष के मशहूर गायक मुमताज ख़ाँ साहेब, जो इसी प्रोग्राम के लिए आये थे, अपने तंबूरे मिलवा रहे थे। हज़ारों के कान रेडियो सेट पर लगे रहते थे कि ये कब गायेंगे। रागों का रागात्मक विश्लेषण तो ऐसा करते थे कि अमृत बरसने लगता था। बड़ी-बड़ी बाइयाँ इनके आगे सिर झुकाती थीं। और बड़े-बड़े गवैये इनसे पनाह माँगते थे। सैकड़ों शिष्य इनके बहुत उम्दा गाते थे। यह तो रेडियो का भाग्य था कि वे यहाँ आ गये। रेडियो की मोटर पर सवार होकर शिष्यों सहित रेडिओ स्टेशन पहुँचे। डाय-रेक्टर साहब ने आगे बढ़कर हाथ मिलाया और भीतर ले गये।

रेडिओ स्टेशन पर जुमरात की चंदी वाली भीड़ थी। फाटक पर खोंचे तक लग गये और क़ुल्फ़ी वाले भी आकर डट गये। तार वाले ने आकर तार दिया। म्यूज़िक डायरेक्टर बाबू लंबोदर नाथ ख़ुशी से फूले न समाये। "अरे भाई ज़ौक़ साहब, ख़ुशी की ख़बर सुनो। मिस लैला, पारसी स्टेज की मशहूर गाने वाली, अभी-अभी मेल से पहुँच रही हैं। क्यों क्या कहते हो ? है बड़ी दिलकश ! पार्टी करो यार, पार्टी।" ज़ौक़ साहब पंजाब के ग्रेजुएट थे और देखने में हट्टे-कट्टे थे। बोले, "अमाँ, तार बड़े साहब को तो दिखाओ। फिर देखा जायगा। मैं लैला को बरसों से जानता हूँ। देखना किस तपाक से मिलेगी।"

थोड़ी देर में प्रोग्राम शुरू हुआ। सब से पहले आरंभ में

एक भाषण हुआ। "ख़बरें अब ख़त्म हुईं। अब हमारा इस-पेशल प्रोग्राम शुरू होता है। आल इंडिया रेडिओ की ख़्वाहिश है कि 'महफ़िल' प्रोग्राम के साथ इल्ममूसूकी याने सांगीत की एक नई तहरीक का आग़ाज़ हो।······ज़बान के मामले में जिस तरह हम एक सीधी-सादी ज़बान निकाल रहे हैं जिसमें संसकीरत और फ़ारसी का शुमार न हो उसी तरह हम अपने मुल्क के फ़ुनूने-लतीफ़ा के मुतालिक़ भी इसी क़िस्म का अम्र करना चाहते हैं।···हिंदोस्तान का पुराना सांगीत तबाह हो रहा है। रेडिओ उसे बचायेगा, महफ़ूज़ रखेगा और उसमें नई ज़िन्दगी फूंकेगा। आज का प्रोग्राम 'महफ़िल' इसका सुबूत है।···उम्मीद है हमारे सुनने वाले इस प्रोग्राम से महज़ूज़ होंगे। इस प्रोग्राम में ख़ाँ साहेब मुमताज़ ख़ाँ, कच्छ वाली बेख़ुद जान, बंबई वाली मशहूर मिस लैला, नर्गिस बाई, मैना बाई, ख़ुशबख़्त जान, तारा बाबू, मिस पी० और मास्टर रशीद हिस्सा लेंगे।······लीजिए अब हमारा प्रोग्राम शुरू होता है।" रेडिओ आरकेस्ट्रा की पूर्वांग वाली सोहनी के बाद मास्टर रशीद का फ़िल्मी गाना हुआ। शब्द थे, "प्रेमी जग में सब से न्यारा।" ख़ुशबख़्त जान रात में ओस में सो गई थीं। आवाज़ भर्रा रही थी। ऊँची आवाज़ से बाबा आदम के ज़माने की ग़ज़ल गाने लगीं 'मुस्कुराते जाते हैं कुछ मूँ से फ़रमाने के बाद।" डा० पी० साहब ने क्रोध से म्यूज़िक डायरेक्टर की ओर देखा। "क्यों जी, इनको तुमने बुक किया? निहायत बेसुरी हैं।"··· इसके पश्चात् मैना बाई और इशरत जान और ख़ुशबख़्त जान ने दादरा और ग़ज़लें गाईं। शायद लखनऊ के बसीखेदार इक्के वाले इनसे ज़्यादा सुर में गाते। इशरत जान से "घर रहियों की जइहो" पर वार प्रापेगेंडा के इनचार्ज, अधेड़ उम्र वाले, जमील साहब ख़ूब झूमे। म्यूज़िक डायरेक्टर साहब

अपनी डायरी में पेंसिल से दादरा लिख रहे थे। "अब नर्गिस बाई से पीलू की ठुमरी सुनिये। बोल है, 'बाँसुरी की धुन लागी।" म्यूज़िक डायरेक्टर का कलेजा मुँ पर आ गया। डी० पी० साहब बेचैन थे। "क्या आवाज़ है! सुभान अल्लाह! क्यों भाई महेश?" "अजी, क्या कहने हैं!" टॉकिज़ के मालिक महेश जी पहले ही मिल चुके थे नर्गिस से। उन्होंने उसकी बड़ी प्रशंसा की। इसके बाद ही मिस पी० का नंबर था। गला सुंदर था। तंबूरे बोले, सारंगी छिड़ी और वाइलन क्लैरियोनेट गूंजे। "मतवाली मेरी आँखें, प्रेमी को ढूंढ़ रही हैं।" बड़े साहब, छोटे साहब, मँझले साहब मस्त हो रहे थे। गाना समाप्त होने पर बड़े साहब पी० को चाय पिलाने ले गये। ज़ौक़, महेश, लंबोदर जी, जमील कानाफूसी करने लगे। उधर चपरासियों में इतवारी और रतन सिंह बीड़ी पी पीकर न मालूम किस बात पर हँस रहे थे। खुदा जाने।

"अब बंबई की बेख़ुद जान राग बिहागड़ा गायेंगी।" बेख़ुद जान ने मशहूर ख़्याल "प्यारी पग होले" शुरू किया। इस समय चाय उड़ रही थी। रेडिओ स्टेशन के कर्मचारी इस समय नर्गिस और पी० की उधेड़बुन में थे। अनाउंसर साहब भी जल्दी बेख़ुद जान का नाम पुकार कर वहीं पहुँच गये। उधर स्टेंडबाई मिस्टर गब्बू ने भी अपनी ड्यूटी मज़हर से बदल कर मिर्ज़ापुर की मैना का स्वागत तीन पैसे वाले गरम चाय के प्याले से किया। रेस्ट्रां के प्रोप्राइटर खोखा बाबू अंबाले की इशरत जान से अपनी टूटी हिंदुस्तानी में बातें कर रहे थे, "बाई जी, ई शाला जापानी जो गड़बड़ कर रहा है इससे मामला ख़राब हो रहा है। ओ बाबा, आपका गाना—की चोमोत्कार।" किसी ने चिल्लाकर कहा "खोखा बाबू, रात में मक्खियाँ कहाँ से आईं! यह देखिये, मेरी चाय में मक्खी

गिर गई।" खोखा बाबू धोती सँभाल कर भागे। इतनी गड़बड़ थी कि बेखुद जान के बाद तारा बाबू के सितार को भी किसी ने न सुना। कच्छ के उस्ताद मुमताज़ खाँ ने बागेश्वरी का ख्याल शुरू किया। बहुत से लोग स्टूडियो में आकर सुनने लगे। डायरेक्टर साहब मिस पी० से बातें कर रहे थे। चपरासी ने आकर खबर दी कि मिस लैला आ गई। "इतनी देर में!" "मिस लैला, आपके इश्तियाक़ में हजारों लिसनर्स हैं। उस्ताद मुमताज़ खाँ के बाद आखरी आइटम आपही का है। आप ज़रा डी० पी० साहब से मिल लीजिए।" रेडिओ वालों को सख्त अफ़सोस हुआ कि उन्होंने बेखुद जान और उस्ताद मुमताज़ खाँ के राग-रागनियों वाले आइटम्स पर इतना पैसा और समय क्यों व्यर्थ गँवाया। क्या लाभ हुआ? राग रागिनी समझता कौन है। मिस लैला का नाटकी तर्ज़ का दादरा "सूनी सेजरिया पै·····" खूब जमा। महेश तो सुन कर दीवाने हो गये। एक पी० ए० साहब को ग़श आ गया। दूसरी नाटक की चीज़ 'तनिक चैन देओ प्यारे' थी जिस पर मँझले साहब भी जिन्हें सुर से कोई वास्ता नहीं था, सिर हिलाने लगे। थोड़ी देर में, "अब हमारा प्रोग्राम 'महफ़िल' खत्म होता है। रात के बारह बजे हैं। ··· आदाब अर्ज़ है" --इतना कह कर अनाउंसर ने प्रोग्राम को समाप्त किया। पौने बारह बजे थे।

मास्टर रशीद चेक लेकर साइकिल पर होस्टल भागा। मैना बाई और इशारत जान और खुशबख्त जान के लिए इक्के आये। बेखुद जान ताँगे पर सवार होकर पैराडाइस होटल की ओर ऊँघती हुई चलीं। बेचारे उस्ताद मुमताज़ खाँ मोटर की प्रतीक्षा में आध घंटे बैठने के बाद चौराहे पर ताँगा करके चले गये। नंबर चार स्टूडियों में बड़े साहब, मँझले साहब, छोटे साहब, महेश, लंबोदर जी, जमील और जौक़ बैठे थे। सामने

नर्गिस, पी०, लैला विराजमान थीं। बड़े साहब बोले, "आज का प्रोग्राम आप लोगों की वजह से कामयाब हुआ। नर्गिस बाई, आपके दादरे बहुत ही उम्दा थे। हमने ऐसे दादरे कभी नहीं सुने। और फिर ठुमरी भी आप बहुत उम्दा गाती हैं। मिस पी०, वेल आइ मस्ट टेल यू "आपका पहला गीत बेमिस्ल था। हमारे स्टेशन से ऐसे गीत किसी ने आज तक नहीं गाये। और मिस लैला, आपके स्टेज सौंग्स तो बड़े ग़ज़ब के हैं। क्या कहना है आपका। आप लोगों का कहाँ तक शुक्रिया किया जाये। क्या ख़ाँ साहेब मुमताज़ ख़ाँ चले गये! ख़ूब गाये! क्या कहना है। मगर जो मज़ा आप लोगों के गानों में आया उसका मुक़ाबला राग-रागिनियाँ कहाँ कर सकती हैं।"

मोटर पर तीनों मिसें सवार हो रही थीं। मि० जमील झुँझला उठे। महेश मन ही मन कुढ़ा। ज़ौक़ तो ग़ुस्से में किसी को थप्पड़ मारने वाला था; ख़ैरियत हुई। लंबोदरनाथ जी तो दुम दबाकर भागे। चलते समय बड़े साहब ने मि० जमील को पुकार कर कहा, "कल अख़बारों में अगर महफ़िल पर एक नोट निकल जाय तो अच्छा है। मेरा मतलब पब्लिसि-येशन से है।" पी० शोख़ी से हँस पड़ी। साढ़े बारह का घंटा भी टन से बज गया। पोर्टिको की रोशनी में मिस लैला और नर्गिस बाई जम्हाइयाँ ले रही थीं।

रिहर्सल

मिस्टर शाद ग़ैर-फ़ानी ने अभी एक साल ही हुए रेडियो की नौकरी उठाई है। एक ही साल में इन्होंने न मालूम क्या-क्या कर डाला। दुबले-पतले अवश्य थे और मजनू से शर्त भी बदते थे। परन्तु काम ख़ूब करते थे। हर डिपार्टमेंट में आपने

काम किया था। यार-दोस्त इन्हें हरफ़न मौला ही कहते थे। इस प्रशंसा पर वे फूले नहीं समाते और बार-बार मित्रों से इसी उपनाम की प्रतीक्षा करते थे। म्यूज़िक डिपार्टमेंट में रह-कर जो-जो प्रोग्राम आपने पब्लिक के सामने पेश किये वे अनोखे, निराले और लासानी थे। गवैये का मूं न पकड़ पायें तो क्या हुआ, दुम तो पकड़ ही लेते थे। अपनी 'बुद्धि के फड़ये' से मिट्टी खोदा करते थे। आवाज़ नहीं थी मगर कभी-कभी गुनगुनाया करते थे और बड़े सुर में। कोई गाने आया बस फिर क्या कहना था। कभी "बी" दिया और कभी "सी"। "ए" तो कदाचित् वे अपने मरहूम को भी नहीं देते। समझ-दार ऐसे ही होते हैं, किसी से दबते नहीं। अंग्रेज़ी भी खूब बोलते थे। एक युवती से बोले—"Madam, have you broadcasted ?" और यह तो मशहूर फ़िक़रा हो गया है कि एक बार एक आर्टिस्ट बग़ैर चेक लिये चला गया तो यह महा-शय घबरा कर बोले—"Did he went away ?" मगर जनाब इससे क्या होता है ? आप कुछ दिनों के बाद इसी को टकसाली भाषा मानियेगा। ये बग़ैर डिग्री वाले महाशय हज़ारों से अच्छे थे। दिल्ली में मूसा वाली लाठी ज़ोर से मारी और भाग्य का दरिया उबल पड़ा। इसे कहते हैं रेडियो में क़िस्मत। जी हाँ, तो आज ग़ैर-फ़ानी साहब याने शाद मियाँ जिनका उपनाम ही यह था, कुर्सी पर बैठे हुए पासिंग शो पी रहे थे। काली पतलून, सफ़ेद क़मीज़ और पंजाबी चप्पलें और फिर उन पर लम्बी-लम्बी आशिकाना ज़ुल्फें जिन्हें बिजली का टेबिल-फ़ैन बार-बार बिखेर देता था। ग़ैर-फ़ानी तखल्लुस रखकर शेर कहने वाले श्रीमान् श्रीयुत शाह साहब शायरी में किसी से कम न थे। उनका भावुक और रसिक हृदय कविता उगलता फिरता था। और जिस तरह वे अपने घर के लगे पानों की पीक

स्टूडिओ की दीवारों पर नक़्श करते थे उसी तरह उनकी भाव-मय पीड़ित आत्मा हर मतले पर मतली खाती थी। बड़े विद्वान और भावुक थे। कुछ दिन पहले पैदा होते तो न मालूम क्या कर बैठते।

आजकल ड्रामा के इंचार्ज थे। हिन्दी और उर्दू के सैकड़ों ड्रामें, ब्राडकास्ट करवा चुके थे। आज उन्हीं के लिखे हुए ड्रामा "बनवास" का रिहर्सल था। इस नाटक का ऐतिहासिक वातावरण इन्होंने ख़ूब निबाहा था। राम और सीता की कथा नैतिक और दार्शनिक तत्व को इस नाटक में सुरक्षित रखने का पूर्ण प्रयत्न किया गया था। भाषा बहुत सुन्दर और परिमार्जित थी जिसे आधुनिक हिन्दी संसार हर्ष से अपनाएगा। चरित्र-चित्रण भी निराला था। रामायण का चरित्र-चित्रण पुराना हो चुका था। आधुनिक युग का मनुष्य कुछ विज्ञान और मनोविज्ञान के विश्लेषण का आदी सा हो गया था। राम और सीता क्यों न दूसरे चित्रों में दिखाई दें। ग़ैर-फ़ानी साहब ने इस नाटक को पूर्णरूप से आधुनिक बनाया था। म्यूज़िक भी ऐसा था जिससे कथा और उसके मुख्य भावों का उचित प्रदर्शन हो। उनके मित्र लंबोदर नाथ जी ने इस पर बड़ी मेहनत की थी। ख़ुद एक बड़े संगीतज्ञ होकर उन्होंने इस नाटक को एक अपनी कला प्रदान की। ऐसे-ऐसे touches दिये थे कि सुनने वाले अपने रेडिओ सेट्स को आँसुओं से तर कर दें। ग़ैर-फ़ानी साहब ने इस नाटक को सब प्रकार से सुन्दर और रोचक बनाने का प्रयत्न किया था। और फिर उन्हें जब ऐसे संगीतज्ञ जैसे लंबोदर नाथ जी का सहयोग मिल गया तो फिर क्या कहने थे।

पासिंग शो को जलाते हुए नंबर दो स्टूडिओ में शाद साहब दाख़िल हुए। आर्टिस्ट खड़े हो गये। कुछ ने झुक कर सलाम किया। अकड़ते हुए और हरे रेशमी रूमाल से पसीना पोंछते

हुए बोले, "देखो भाई, सब हाज़िर हैं। यह आख़िरी रिहर्सल है। आज रात को आठ बजे ड्रामा ब्राडकास्ट किया जायेगा। मिस लख्ते-जिगर कहाँ हैं, उन्हें बुला लो। उफ़...माई गाड, नौनसेंस, गुडनेस मी, उन्हें देर क्यों होती है।...अरे गब्बू, ज़रा पंखे को ज़ोर से चला दो!" स्टूडिओ नंबर दो में इस नाटक में हिस्सा लेने वाले सब जमा हो गये। क्लारनेट वाले ऊँघ से रहे थे। सारंगिया सारंगी पर बग़ैर गज़ के उँगलियाँ चला रहा था। तबलिआ उखरू बैठा हुआ तंबाखू चाट रहा था। लंबोदरनाथ जी ने मूँछों पर हाथ फेरते हुए साज़िंदों को तैयार होने का इशारा किया। ग़ैर-फ़ानी साहब ने अपने बालों को, जो दो महीने से नहीं कटे थे, पीछे फेंकते हुए कहा "बी रेडी।" राम और सीता आगे खिसक आये। जो महाशय राम का पार्ट करने के लिए चुने गये थे, एक दुहरे बदन के ऐनक-बाज़ नौजवान थे। देखने में ऐसे लगते थे जैसे पेरिस एम्यूज़-मेंट पार्क के जुआड़ी। ख़ूब मूं रंग रखा था पान से। जबलपुर की बंदर छाप वाली बीड़ी पचास-साठ पी जाया करते थे। रोज़ घर में बीबी से लड़ते थे मगर घुड़दौड़ में चाय की दूकान रख लिया करते थे। ग़ैर-फ़ानी साहब इनसे बड़े ख़ुश थे। शाम को अक्सर दोनों कहीं चाट खाते मिलते थे। राम का पार्ट करना इनके बाँयें हाथ का खेल था। अक्सर रामलीला में रावण और मंदोदरी बने थे। ख़ूब प्रैक्टिस थी। तो फिर ग़ैर-फ़ानी साहब इन्हें क्यों न चुनते!

सीता का पार्ट मिस लख्तेजिगर को मिला था। आप ख़ूब गाती थीं! स्लीवलेस जंपर पर वायल की सारी पहने हुए और आँखें और भौंहें चलाते हुए आप ग़ैर-फ़ानी साहब के और पास आगईं। "देखिये शाद साहब, मुझे कब-कब रोना है?" शाद साहब, हँस कर बोले, "अभी सब बताये देता हूँ।"

इसी तरह और पात्र भी आकर जमा हुए। "बी रेडी" की आवाज़ आई। नाटक का रिहर्सल शुरू हुआ। A.I.R. के ऑरकेस्ट्रा ने एक ऐंग्लो-इंडियन राग शुरू की जिसकी ईजाद लंबोदर नाथ जी ने की थी। यह राग जाते समय हिन्दुस्तानी लगती थी और लौटते समय अँग्रेज़ी। दृश्य वह था जहाँ राम सीता को समझा रहे हैं कि वह बन उनके साथ न जाय। ऑरकेस्ट्रा के बजने से तो ऐसा लग रहा था जैसे किसी कार्निवल का "फ़ायर डाइव" वाला खेल होने वाला है। मगर लिस्नर्स को तो कल्पना-शक्ति से काम लेना है। उन्हें यह सोचना है कि लंबोदर नाथ जी की बनाई हुई ट्यून दो हृदयों की मूक भाषा है। क्लारनेट की चीख़ में उन्हें आत्माओं का रोदन सुनाई देना चाहिए; और वाइलिन और गिटार के उतार-चढ़ाव में उन्हें राम और सीता के मानसिक संघर्ष की गूंज सुनाई देना चाहिए। यही तो कला है। श्रोता को भी प्रतिभाशील होना चाहिए। उसे बहुत सी बातों को संकेत से समझना चाहिए। इस संगीत में रेडिओ के म्यूज़िक इंचार्ज लंबोदर नाथ जी ने एक प्रकार का गहरा प्रतीकवाद छिपा रक्खा था। मामूली आदमी उसको नहीं समझ सकते। इस आत्मा के संगीत को बहुत कम लोग समझ पाते हैं। ख़ैर, ऑरकेस्ट्रा के धीरे-धीरे अंत होने पर राम और सीता का माइक्रोफ़ोनी अभिनय शुरू हुआ।

ग़ैर-फ़ानी साहब ने राम और सीता से कहा कि अपना पार्ट बोलें।

राम—नादान सीता, तुम्हें जंगल की परीशानियों का क्या पता! महल में रहने वाली नाज़ुक शाहज़ादी, जिसके पैर फ़र्शे-मख़मल पर ज़ख्मी होते हैं, उस हौलनाक बयाबाँ में कैसे रह सकती है!

सीता—मेरे बेरहम शौहर, तुम्हें यह कहते ज़रा भी तरस

नहीं आता। बयाबां हो, दश्त हो, आग हो, ओले हों, तूफ़ान हो, मैं तुम्हारी हूँ। मैं हरेक की बाँदी नहीं हूँ। मैं तुम्हारी मन-कूहा बीबी हूँ।

राम—उफ़, सीता, तुमने तो मुझे कहीं का न रक्खा। बात मानों, मेरी ज़िन्दगी की राहत, तुम महल में रह कर इस बन-वास की लम्बी-शबे हिज्र काटो।

सीता—क्या कहा संगे दिल राम! मैं यहाँ रहूँ! कैकेयी ऐसी नागिन के मूं में मुझे छोड़ कर जंगल में जाकर छिपना चाहते हो?

राम—सीता, तुम्हें क्या हो गया है! तुम मेरे पैरों में बेड़ियां डाल रही हो। तुम्हें मेरी दिमाग़ी जंग का एहसास नहीं है। ख़ुदा बेहतर जानता है, मैं कितना परेशान हूँ। उधर वालिद का हुक्म, इधर तुम्हारी मुहब्बत। ज़रा तो मुझ बेकस पर रहम करो।

ग़ैर-फ़ानी साहब ने रोक कर सीता और राम से कहा "शाबाश, बहुत उम्दा।" लंबोदर नाथ ने भाषा की सरलता और स्वाभाविकता की प्रशंसा की। ग़ैर-फ़ानी बोले—"अब आख़िरी सीन का रिहर्सल होगा। वह ज़रा मुश्किल भी है। राम और सीता जंगल में लक्ष्मण के साथ जा रहे हैं। भयानक और सुनसान रात है। ऑरकेस्ट्रा बैक ग्राउंड म्यूज़िक पहले बजाएगा।"

"अरे, डी० पी० साहब आ गये, सीधे बैठो।" आर्टिस्टों में से एक ने कहा। वाक़ई, डी० पी० साहब भी दो-एक मित्रों के साथ रिहर्सल देखने आ गये। ऐसा मालूम हुआ जैसे पालतू चूहों के बीच में कोई काली जंगली बिल्ली आ गई।

"बैकग्राउंड" ग़ैर-फ़ानी ने चिल्ला कर कहा। ऑरकेस्ट्रा ने उस दृश्य के प्रदर्शन के लिए एक ट्यून शुरू की। लंबोदर नाथ

के हाथ और गर्दन दोनों हिल रहे थे कि ऐसा बजाओ वैसा बजाओ। ग़ैर-फ़ानी बार-बार डी० पी० साहब ही की तरफ़ दृष्टि गड़ा कर देख रहे थे। मिस लख़्ते-जिगर और मिस सोज़िश दोनों कनखिओं से देख रही थीं। बैकग्राउंड म्यूज़िक भी ख़ूब था। कल्पना करने पर तो अवश्य जंगल दिखाई देता था और अँधेरी रात का सुनसानपन। वरना ऐसा लगता था जैसे किसी की सिविल मैरिज हो रही है; या यों कहिये कि पारसी थियेट्रिकल कम्पनी के स्टेज पर कोई ख़ुदकुशी करता हुआ दिखाया जा रहा है। ग़ैर-फ़ानी साहब के इशारे पर डायलग शुरू हुआ।

लक्ष्मण—क़सम ख़ुदा की भाई जान, ऐसी शब भी न देखी कभी। क्यों भाभी, क्या ख़्याल है!

सीता—लक्ष्मण, तुम्हें हर वक़्त मज़ाक सूझता है।

लक्ष्मण—तो जब भाई जान मना कर रहे थे कि आप बनवास में न जायें तो आप क्यों नहीं मानीं?

राम—लक्ष्मण, तुम्हारी भाभी थक गई हैं। बारिश भी बेपनाह हो रही है। चलो इस दरख़्त के साये तले ज़रा आराम करें। (गाते हुए)

दोनों—बरसें काली काली घटायें।
राम—हमें किस नगरी को जाना?
हमें किसका देस बसाना?
सीता—हमें प्रेम-नगर को जाना।
हमें अपना देस बसाना॥
दोनों—बरसें काली काली घटायें।

ग़ैर-फ़ानी साहब ने रोक कर कहा "बस, यहीं तक गाना होगा; उसके बाद जंगली शेरे बब्बर से लक्ष्मण की लड़ाई होगी। अमानत अली, तुम्हें शेर के मुआफ़िक़ ग़ुर्राना चाहिए और ज़ोर से। और जब लक्ष्मण तीर मारे तो चीख़ कर गिर

पड़ना।" ऑरकेस्ट्रा ने मारवा राग की एक वीर रस वाली सरगम शुरू की। लंबोदर नाथ जी के हाथ में सितार था। झाले खूब सोहनी बजाई। सीता और राम अलग खड़े थे। लक्ष्मण का अभिनय शुरू हुआ।

सीता – राम, प्यारे राम, शेर! शेर!!

राम – ठहरो, घबराओ मत।

लक्ष्मण—भाई जान ठहरिये, यह मेरा शिकार है, मुझे मारने दीजिये।

अमानत अली ने शेर के समान गुर्राया। ऑरकेस्ट्रा बजा।

तीर मारते समय लक्ष्मण धड़ाम से तख्ते पर गिर पड़ा। "उफ़, बड़ी चोट आई।" ग़ैर-फ़ानी, डा० पी०, लंबोदर सब दौड़ पड़े। जो महाशय लक्ष्मण बने थे उनकी रीढ़ की हड्डी में बड़ी चोट आई। उठ नहीं पा रहे थे। चोट गहरी थी इसलिए अस्पताल पहुँचाये गये।

डा० पी० साहब ने ग़ैर-फ़ानी से कहा, "अब लक्ष्मण कौन बने?" मि० ग़ैरफ़ानी ने कहा, "अब किसको बनायें, अब वक्त ही कहाँ डा० पी० साहब!"

डा० पी—मेरा ख्याल है लक्ष्मण का पार्ट ही उड़ा दिया जाये। ऐसा करने से ड्रामा ज़रा और माडर्न और अप-टू-डेट हो जायेगा। क्यों क्या ख्याल है?

ग़ैर-फ़ानी—आप बजा फ़रमाते हैं। मैं भी यही सोच रहा था। It is an idea.

डा० पी०—और आखिरी कोरस ठीक हो गया?

ग़ैर-फ़ानी—जी हाँ, मैंने खुद एक चीज़ बनाई है जो "सावन के नज़ारे" वाले गीत की तर्ज़ पर है। मैंने बाँधा है—

अयोध्या के नज़ारे हैं
हा हा, हा हा !

डी० पी०—हा हा हा हा हा ! डैम गुड । भाई यह बहुत अच्छा रहेगा। "बनवास" की रूह है इस गाने में।

हारमोनियम का जनाज़ा

रामपूर में एक आलीशान मकान के एक कमरे में कुछ लोग बैठे थे। तीन-चार हारमोनियम बीच में रक्खे थे। नवाब छम्मन साहब जो सुरसिंगार बजाने में अद्वितीय थे और जो संगीत के मशहूर विद्वान थे, एक व्यक्ति से कह रहे थे "ज़रा फिर से उस हरकत को बाजे पर कहिए। क्या अच्छी हरकत थी।" वह व्यक्ति जिससे नवाब साहब यह कह रहे थे, चुप था। छम्मन साहब बोले, "भैय्या जी, आपके हाथ से क्या अच्छा बोल बनता है।" भैय्या जी (भैय्या साहब गनपतराव) ने हाथ में बाजा लिया। बोल क्या बनते थे मालूम होता था कोई गले से बोल कह रहा है। हर बार नया बोल बनता था। उँगली की एक हरकत से अमृत बरसने लगता था। बाजा क्या बजाते थे सुरों की झड़ी लगा देते थे। तीन घंटे तक एक ही दादरा बजता रहा। हर बार नया बोल। यही थे भारतवर्ष के मशहूर भैय्या जी जिन्होंने हारमोनियम को इतने ऊँचे स्थान पर बिठाया। छम्मन साहब झूम रहे थे। भैय्या जी ने दादरे की जीती-जागती तस्वीर खड़ी कर दी। बाजे के सुर दो तम्बूरों के सुरों से बिलकुल मिल गये थे। हाथ कैसा मुलायम और सुंदर था। मरहूम नवाब रामपूर ने कमरे में घुसते हुए कहा "भैय्या जी, सुभानअल्लाह, बाजा नहीं बीन बजा रहे हो।"

बीस वर्ष बाद। रेडिओ के बड़े लाट साहब का फ़र्मान एक दिन निकलता है और हारमोनिम की जीवन-यात्रा स्टूडियो नम्बर एक, दो, तीन, चार में समाप्त हो जाती है। सरकारी आज्ञा है, कौन टाल सकता है! हारमोनियम संसार के बाजों में सबसे भद्दा और बेसुरा है। न इसमें सुर और न तान। अजी विदेशी बाजा है, यहाँ का नहीं है। इससे हमें लेना ही क्या? संगीत का गला घोंटता है गला। बैंजो, मैंडलिन, गिटार, वाइलिन, क्लारनट,—ये सब हारमोनियम से अच्छे हैं। ये विदेशी नहीं हैं। इनकी ईजाद तो बैजू बावरे और गोपाल नायक ने की थी। हाय भैय्या जी, तुम न हुए। नहीं तो बताते रेडिओ के इन रँगे हुए "प्यूरिटन्स" का कि हारमोनियम होती क्या चीज़ है। न हुए तुम्हारे शिष्य मौजदीन खाँ, नहीं तो तुम्हारे बाजे के साथ अपनी ठुमरी को रंगीन बना कर रुलवा देते गिटार और गीतों पर आँसू बहाने वाले इन मोम के पुतलों को। हाय, अफ़सोस, तुम न हुए भैय्या जी, नहीं तो किसकी मजाल थी कि तुम्हारे बजाये हुए साज़ पर कोई यह अत्याचार करता। तुम्हारे एक बोल पर तो ये पाकदामन संगीत-सेवक लट्टू हो जाते।......एलान हुआ और पहली तारीख़ से हारमोनियम ग़ायब हो गया। शाबाश! भई अब रेडियो स्टेशन साफ़ हो गया, पाक हो गया। उँगली कटा के शहीद तो हुए। अच्छा हुआ, बहुत अच्छा हुआ। इसने तो मेरे कान ख़राब कर दिये थे। न कमबख्त में सुरों की सचाई है और न इस पर राग-रागनियाँ बज सकती हैं। मींड, सूत, गमक इत्यादि का आनन्द अब आयेगा। हमारे यहाँ का जो वाईलिनिस्ट है, सुना है आपने उसे? निरी सूत सूतता है और निरी मींड मींजता है। गमक तो ऐसी गुमकाता है कि खड़ताल हो तो मज़ा आ जाये। मैं पाँच बरस इस स्टेशन पर नौकरी करते-करते किस

चीज़ को नहीं समझता ? भई सच मानना, हारमोनियम के जाने से यहाँ का गाना-बजाना सुधर गया। क्लारनट को देखिये। अहा हा, क्या सुरीला बाजा है। जिस वक्त वो गाता है और उनके साथ सितार का आशिक़ाना रंग वाला झाला फिंकता है और कलेजे पर चोट करने वाले गिटार के तार छिड़ते हैं, बस यह मालूम पड़ता है जन्नत की परियाँ हैं। हारमोनियम में यह बात कहाँ ? धन्य है हुज़ूर·····साहब का जिन्होंने इस जलील बाजे को दूर किया। रेडिओ अब संगीत की सेवा और ख़ूबी से करेगा। यही तो रेडिओ का परम धर्म है।

धन्य है पाखंड, तेरे विचित्र रूप होते हैं।

सर फ़लाने ने रेडिओ की ताईद की। सर ढिकाने ने, जो मसूरी पर जॉन हेग और जैज़ के नशे में बहुत बेतुका नाच नाचते थे, इस "पालसी" की ख़ूब तारीफ़ की। और फिर दस बीस और लोगों ने इस फाँसी के फ़ैसले को शाबाशी देते हुए मुजरिम को संसार का सबसे बड़ा पापी ठहराया। बेचारे हारमोनियम के कमज़ोर प्रेमी सिर पटक कर रह गये। समाचार-पत्र भी बड़े लोगों के शब्दों के पीछे दुम दबाकर भागे। हारमोनियम के प्रेमियों की सुनता कौन ? रेडिओ ने कला का नक़ाब पहन कर ख़ूब ज़ुल्म किया। आखिर हारमोनियम, तेरे कूचे से ऐ ज़ालिम, बड़ी मजबूरी से निकला। क्लारनट, गिटार, फ़्लूट, बैंजो और वाइलिन की बज़्मे-अग़यार में यह संगदिल बेदर्द ऑल इंडिया रेडियो ख़ूब-दिल लगाने और दिल लुभाने की बातें करता रहा। "हारमोनियम तेरा सत्यानाश हो" --मुसम्मात ब्राडकास्टिंग बोलीं। "मुये देखता नहीं, तू कहाँ घुस आया था।" रेडिओ ने जिसकी रोटियों के टुकड़ों से अपने बचपन में परवरिश पाई, आज उसी को घर से निकाल कर

खुश बैठा है। ओ पत्थर के कलेजे, तुझे इस साज़े-नाज़ुक की कभी तो हाय लगेगी। हाय, न हुए भैय्या जी !......

"उई अल्ला, म्यूज़िक डाइरेक्टर साहब, मेरी तो रूह फ़ना हो गई। बाजा कहाँ है ? मैं तो दूसरे काले से गाती हूँ। बाजा क्या हुआ ?"

"बाजा अब इस स्टेशन पर नहीं बजेगा।"

"क्यों क्या हुआ बाबू ? ऐ हुज़ूर, मैं तो बाजे के बग़ैर न गाऊँगी। ख़ुदा के वास्ते..."

"पाँच मिनट और हैं तानपूरा लीजिए बाई जी। सारंगी काफ़ी है।"

"या अल्ला, लाज रखिए।"

बाई जी गीत और ग़ज़ल गाईं। बेसुरी सारंगी और बेसुरी क्लारनट दोनों बेसुरे गाने के साथ अजब मज़ा दे रही थीं। म्यूज़िक डायरेक्टर साहब सूत, मींड का मज़ा ले रहे थे। हारमोनियम को निकाल कर सारंगियों ने बाई जी को बेसुरा बना दिया। कौन समझाये इन लोगों को कि आम फ़हम गाने को हारमोनियम सजाता है, बिगाड़ता नहीं ? बड़े लाट जो हैं रेडिओ के, उनका बुग्ज़े-लिल्लाही भी एक फ़ैशनेबल प्लेग है। सबको लगता है। बेचारे कर्मचारी चूहे मार-मार के इस प्लेग को फैलाते हैं। करें क्या ? ....

आज शाम को अजमल हुसेन की पार्टी का क़व्वाली का प्रोग्राम था। बाजा नदारद। अजमेर शरीफ़ भी इस बाजे को हराम नहीं समझता। मगर रेडिओ ? अजी यह तो शरीफ़ों का शरीफ़ है। ख़ैर, बेचारे क़व्वाल—क़िस्मत के मारे पहुँचे। बाजा नदारद। पूछने पर पता चला कि क़व्वाली के साथ अब क्लारटन बजेगी। क्या बात है ! सुभान अल्लाह ! क़व्वाली और क्लारनट ! धन्य है रेडिओ तेरी ब्रॉडकास्टिंग के सिलसिले

को ! क्या सोची है ! ख़ैर, मरता क्या न करता । जिन क़व्वालों की क़व्वाली पर लिसनर्स बैठे-बैठे झूमा करते थे, आज उनकी चीजें फीकी मालूम पड़ीं । क़व्वाली का रंग नहीं आया । मगर रेडिओ को तो अपने रंग से मतलब है । फ़ना के बाद बक़ा मिलेगी—यही तो बेचारा रेडिओ कहता है ।

जिन रेडिओ वालों की ज़मीर उन्हें काटती है और जिनके नन्हें, नाज़ुक दिल हारमोनियम की आवाज़ सुनकर कुम्हला जाते हैं उनसे पूछा जाय कि क्लारनट, बैंजो, गिटार, वाइलिन इत्यादि साज़ों को सुनकर उनकी पाकदामन रूहें क्यों नहीं बेचैन होतीं ? क्या ये विदेशी बाजे नहीं हैं ? क्या ये हारमोनियम से अच्छे हैं ? आरकेस्टरा क्या हिंदुस्तानी चाज़ है ? डूयेट, कोरस—ये क्या हैं ? कर्कश बाजों के साथ नाज़ुकबदनों के प्रेम के गीतों को सुनकर यह रेडिओ हरजाई क्यों झूमने लगता है । वज्द आ जाता है वज्द । प्रेम का समुद्र, प्रेम की नदी, प्रेम का तालाब, प्रेम का नाला, प्रेम की नाली, प्रेम का हौज़ । धन्य है ! और बे-ख़बरें आशिकों के लिए प्रेम और प्रीत का कांदाहौज़ है जिसमें तख़य्युल और गुदगुदाहट की हरी घास चरने के लिए मनों पड़ी रहती है । फ़िल्मी गानों से ये पाकदामन योगी ख़ुश होते हैं । हारमोनियम ! तोबा ! तोबा ! छि बाबा ! अरे राम राम ! ओ माई गॉड ! नॉनसेंस ! नाक भौं सिकुड़ गये । तेवर बदल गये । इन मूसीक़ी के सच्चे बंदों से ज़लील बाजे का ज़िक्र भी न करना भाई । इनकी रूहें टू डायरेक्शनल माइक्रोफ़ोनों से कम नहीं हैं । एक तरफ़ से क्लासिकल म्यूज़िक सुनाई देता है और दूसरी तरफ़ से पौपुलर म्यूज़िक । क्या अच्छा इंतज़ाम है ! सहानुभूति दोनों से है । मगर भाई इस दिल का क्या ? इस दिल में तो गिटार वाइलिन और फ़्लूट की झंकारें गूंज रही हैं । रेडिओ स्टेशन के ऐंग्लो इंडियन

आरकेस्ट्रा के आगे बंदे अली खाँ की बीन भी झूठी लगती है। उसकी वजह यह है कि हारमोनियम उसमें नहीं है। जब से यह साज निकाला गया तवायफें कितनी सुर में गाने लगीं। अब प्रोग्रामों को देखिए। मगर प्रोग्राम असिसटंटों के मकानों पर जितने मोहन फ्लूट के बाजे देखे उतने और कहीं नहीं। वजह यह है कि इस बाजे को वे घर पर भी बजा-बजा कर जलील करते हैं।

जाड़े का जमाना था। दो बजे दिन को औडीशन का समय था। मिस ललिता रेडिओ स्टेशन की बैठक में आकर बैठी ही थीं कि एक महाशय दुबले-पतले टाई-कालर लगाए पहुँचे।

"आप किससे मिलना चाहती हैं ?"

"मैं अपने गाने का टेस्ट देने आई हूँ। मेरा औडीशन कहाँ होगा।"

"आप तशरीफ रखिये, मैं अभी पता लगाता हूँ।" इतना कह कर वे चले गये। मिस ललिता मन ही मन मुस्कुराईं और बोलीं—"कमबख्त कैसे मीठे होते हैं !"

इतने में एक दूसरे महाशय आये और बड़ी नम्रता से बोले—"क्या मैं कुछ खिदमत कर सकता हूँ ? आप किसे चाहती हैं ?"

"मुझे औडीशन का इंतजार है।"

"तो मैं अभी करवाये देता हूँ। प्रोग्राम तो आपको मिल ही जायेगा।" इतने में पहले वाले महाशय आ पहुँचे। दोनों ने एक दूसरे को घूर के देखा। मिस ललिता पहले वाले महाशय के साथ स्टूडिओ में पहुँची। एक चपटी नाक वाले घोंघाबसंत ने आगे बढ़ कर मुस्कराते हुए कहा, "आपका मैं औडीशन लूँगा। आप कुछ गाइये।" ललिता ने गीत और भजन सुनाये। बहुत पसन्द किए गए। अगले महीने में प्रोग्राम

रख दिया गया। ललिता से वे ही चपटी नाक वाले और मोटी पिंडली वाले संगीतज्ञ बोले, "आपको हर साज अकम्पनीमेन्ट के लिए मिल सकता है सिवाय हारमोनियम के। आपका गाना क्लारनेट और फ्लूट और भी सुंदर बना देंगे। गाने में जो चाहे सो गाइये। हमारे यहाँ से हर क़िस्म का गाना गाया जाता है। समझीं आप ? आपका गला निहायत तब्ली है।"

"हाँ, मगर यह तो बताइये, हारमोनियम पर आप लोगों का इतना कोप क्यों है ?"

इसका कोई उत्तर न था। आधे दर्जन नवयुवक मिस मालती को फाटक तक पहुँचाने आये। बड़े साहब घंटी पर घंटी बजा रहे थे। कुर्सियाँ ख़ाली पड़ी थीं।

न हारमोनियम होगा और न वह ठुमरी सुनने में आवेगी। मौजद्दीन ख़ाँ का निराला ढंग बाजे पर ख़ूब निकलता है। जहाँ सारंगी अपूर्ण रहती है गाने की संगत में वहाँ बाजा बजता है और ख़ूब बजता है। बाजा निकाल कर रेडियो ने अपने गाने-बजाने को कहाँ तक सुधारा और अच्छा बनाया ? उसका दावा झूठा निकला। फिर बहिष्कार से कौन सा लाभ हुआ ? इसका कोई उत्तर नहीं। मगर इन्साफ़ कभी तो होगा।

"ख़ून दामनगीर है एक रोज़े-महशर के लिए।"

गीत क्या बला है ?

अभी उस दिन की बात है कि एक गायक ने जो पुरानी पद्धति के मानने वाले थे मुझसे पूछा "क्यों साहब, यह गीत क्या बला है ?" इस प्रश्न का क्या उत्तर दिया जाता ? यही कहा जा सकता है कि गीत एक बला है, एक बीमारी है जिसका कोई इलाज नहीं। आजकल संगीत-प्रेम के भी

अलग-अलग रूप है। संगीत-प्रेमी तो सहस्रों की तादाद में हैं मगर कोई कुछ चाहता है, कोई कुछ चाहता है। दावा हर एक को है कि वह संगीत की भक्ति में दीवाना है। अब गीत को लीजिये। फ़िल्म कंपनियों ने इसे जन्म दिया और रेडिओ अब इसे पालपोस रहा है। जिधर देखिये उधर अब इसी की धूम है। आख़िर गीत की परिभाषा क्या है ? बस यह एक ऐसी ही दिलफ़रेब और शोख़ चीज़ है जैसे रेडिओ की हिन्दुस्तानी। दोनों अपनी जगह मज़बूत हैं। हिन्दी की रीढ़ की हड्डी तोड़ कर, लहँगा पहना कर प्रेमब्युलेटर में बिठा दीजिये तो हिन्दुस्तानी बन जायेगी बस यही नुस्ख़ा है। बड़े-बड़े भाषा के हकीम जो नीम हकीम ख़तरे-जान की उपाधि पा चुके हैं पिछली मर्दुम-शुमारी में, इस क़िस्म की हिन्दुस्तानी को पहले सड़ाते हैं, फिर गलाते हैं और तब बनाते हैं। बस जहाँ तैयार हुई कि क्या कहने हैं ! अपना जवाब नहीं रखती।

गीत को भी लोग इसी हिन्दुस्तानी की देन कहते हैं। कथा याद आती है उस चूरन वाले की जो चिल्ला-चिल्ला कर कहता था "जो खाये सो पछताये, जो न खाये सो पछताये।" गीत भी ऐसे ही होते हैं। आजकल के संगीत में गीतों की भरमार है। क्या कारण है ? आधुनिक युग की मशीन सभ्यता जिसका अस्तित्व वैज्ञानिक यथार्थवाद पर निर्भर है और जिसके शरीर से लोहे और गैस की बू आती है, कला का वैज्ञानिक विश्लेषण ज़ोरों से कर रही है। साहित्य भी कसौटी पर तोला जा रहा है। कविता प्राचीन विषयों को त्याग कर मोटर कार और घर के पालतू कुत्ते पर अपनी भावुकता उँडेल रही है। फ़ुर्सत किसे है कि राग-रागनियों के पचड़े में पड़े। दो-तीन घंटे का फ़िल्म देखा जा सकता है मगर दो-तीन घंटे संगीत का आनन्द नहीं लिया जा सकता। फ़िल्म और रेडिओ ने

सोचा कि गीतों का रोज़गार क्यों न किया जाये। पैसा मिलेगा, शुहरत मिलेगी और गाहक भी खुश होंगे। प्राचीन ध्रुपद को कट्टर ब्राह्मण समझ कर संगीत के शिवाले में बंद कर दिया। होरी धमार को लठैत ठाकुरों की तरह प्राचीन संगीत के मुर्दा अजायब घर में क़ैद कर लिया। और ख्याल जिसे दुनिया रंगीला समझती थी और जिसकी मस्त चाल पर हृदय रीझते थे, अपनी आनबान न रख सका। फ़िल्म ने कहा "दूर हो।" आपको मालूम रेडिओ ने क्या कहा? यही कि "आइये, ड्राइंग रूम में बैठिये। अभी स्टुडिओ खाली हुआ जाता है। पंद्रह मिनट से ज्यादा हम आपको ज़हमत न देंगे।" बस, रोज़गार चल पड़ा। लोगों से पूछा कि क्यों साहब, आप लोगों को क्या रागों में मजा नहीं आता, तो बोले

"किसे फ़ुर्सत है फ़र्ज़े-ख़िदमते-उलफ़त बजा लाये।
न हम बेकार बैठे हैं, न तुम बेकार बैठे हो॥"

गीत ने बाज़ी मारी। यह हमारे आधुनिक संगीत का छैला है। घुंघराले बाल हैं, साँवला चेहरा है और प्रेमियों की सी मस्त, लड़खड़ाती चाल है। संगीत के नये यौवन की मदिरा पिये यह जहाँ से निकलता घायल करता निकलता है। दुनिया इस पर दीवानी है। शिथिल भाषा में अपने चंचल भावों को छिपाये हुए हर कूँचे में यह क़दम रखता है। आवाज़ को कँपा कर, आहिस्ता-आहिस्ता दर्द भरे स्वरों में जब कोई गाता है "पपीहा धीरे-धीरे बोल" तो तरुणों की भावुक आत्मायें तिलमिला उठती हैं। इतना ही नहीं। बड़े-बड़े अधेड़ उम्र के प्राणी भी इसकी हूक से तड़प उठते हैं। जवानी याद आ जाती है और वासना के अश्रु-कण टपक पड़ते हैं।

हिन्दी और उर्दू की खिचड़ी बना कर जब उसमें यूरोपियन संगती का नमक छिड़क दिया जाता है तो पुलाव समझ कर

कमजोर से कमजोर मेदे उसे हज्म कर लेते हैं। प्रेम, प्रेम, हर स्थानपर प्रम ही प्रेम है। प्रेमी को कहाँ जाना है ? प्रेम के देस। कैसे जाना है ? प्रेम की नैय्या में। क्या खाना है ? प्रेम। क्या निगलता और चबाना है ? प्रेम। क्या पहनना है ? प्रेम। प्रेम की आफ़त है। एक साजन है जिन्हें प्रीत का तपेदिक हो चुका है। आवाज़ निर्बल, शरीर जर्जर और पिचके गालों पर गेसू। आपका पेशा ? प्रेम, प्रीत, मुहब्बत, इश्क़, पागलपन, दीवानगी, वहशत, जेल, ख़ून, तुर्बत, जनाज़ा। आप चाहते क्या हैं। कुछ नहीं, केवल प्रम। दूसरी सजनी है। बाटा के यहाँ की रंगीन चप्पल पहने हुए, कपड़ों में सेंट लगाये हुए और गालों में पाउडर रगड़े हुए, यह बेचारी सजनी, प्रेम की दीवानी, मीरा की परनानी, रो-रो कर कहती है "साजन चलो दूसरे देस।" करुणा से भरे कितने हृदय-विदारक शब्द हैं। कौन सा देस जाओगी सजनी ? प्रेम के देस। इस पर हमारे क्लीनशेवन जंटलमैन साजन बोलते हैं "सुन प्यारी मन की बात।" फिर दोनों रोते हैं, चीख़ते हैं, चिल्लाते हैं। थोड़ी देर में आँसू पोंछ डालते हैं और प्रेम की मुस्कान मुस्करा देते हैं।

गीत के लिखने वाले शायरों और कवियों से बड़े समझे जाते हैं। कुछ कवि महाशय तो अब गीत लिखने ही का पेशा कर रहे हैं। कविता किताबों के लिए है। गीत बाज़ार का रोज़गार है। उर्दू वालों ने इन गीतों को ख़ूब अपनाया। और अब ये ही इनकी परवरिश कर रहे हैं। हिन्दी शब्दों की ठूंसठाँस कर यह गटापार्चे की बोलती गुड़िया ख़ूब बनाई जाती है। क्या मालूम हिन्दी वाले भी इस उदाहरण से प्रभावित हों। जो कुछ हो, गीतों की इस नई हिन्दुस्तानी से परमात्मा बचाये। लोग कहते हैं संगीत-कला में परिवर्त्तन की आवश्यकता है। तो क्या गीत इस परिवर्त्तन का रूप है ? ऐसे परिवर्त्तन से हमारे संगीत

को क्या लाभ पहुँच सकता है। यदि ऐसा है तो कविता भी इंगलिस्तानी में हो सकती है।

गीतों की कविता बहुत ही लचर होती है। एक ही मजमून को सैकड़ों बार दुहराया जाता है। कोई बात पैदा नहीं होती। बालम नहीं तो साजन है। प्रेम नहीं तो पागल है। सजनी नहीं तो सखी है। प्यारी नहीं तो प्राण प्यारी है। ध्येय क्या है? कुछ नहीं, एक सपना, एक भूल, एक हार, एक जीत।

सब गीत बुरे नहीं होते। कुछ अच्छे गीत भी लिखे गये हैं। हमारे कवि और शायर शौक़ से इन्हें लिखें मगर अपने दृष्टि-कोण को बदलें। जहाँ तक इन गीतों का संगीत से सम्बन्ध है यह कहना ही पड़ता है कि हमारे संगीत से इनका कोई ख़ास ताल्लुक़ नहीं है। फ़िल्म कंपनिओं को चाहिए कि इनका रोजगार ही न करें, इन्हें कला के साँचे में भी ढालें। रेडिओ जो गीतों की सेवा करना संगीत-सेवा समझता है, अभी बहुत दिनों तक इस जादू की लकड़ी को हाथ से न जाने देगा। साजनों और सजनिओं की कमी नहीं है। करना कुछ है नहीं। प्रेम, रोना, सपना—ये ही तो तीन गीत की आध्यात्मिक अवस्थायें हैं। रेडिओ इन्हें पार कर चुका है। "घूँघट के पट खोल तोहे राम मिलेंगे", "निस दिन बरसत नैन हमारे", "आजु रैनि नहिं नींद परी", "खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी" "ऐसी कब करिहो गोपाल" या "आई बसंत अतहि अलबेली", या "नई ऋतु नई बेलरियाँ",—इन पंक्तियों को हमारे संगीत ने कुछ सोच कर ही तो अपना बनाया था। इनमें कविता और भाव दोनों हैं। कोयल की कूक और पपीहे की पुकार तक तो ठीक है मगर कहीं अगर इन गीतों के साजन और सजनी धीरे-धीरे अनंत और शून्य ही की ओर बढ़ें तब तो प्रकृति में रहस्य-

बाद उन्हें बिल्ली की "म्याऊँ" और गधे की 'ढेंचूं' में भी सुनाई देगा। खुदा ख़ैर करे।

म्यूज़िक की मेज़

[स्थान—रेडियो स्टेशन। म्यूज़िक मुहकमें के इञ्चार्ज अपने क्लर्क से बातें कर रहे हैं]

"काम करते-करते आँखें कमज़ोर हो गईं। तीस दिन का प्रोग्राम बनाना मामूली काम नहीं है।"

"जी हाँ, इसमें क्या शक?"

"जितना काम हमलोग म्यूज़िक वाले करते हैं उतना कोई नहीं करता। टाक्स वाले मज़े करते हैं। ड्रामा वालों का यही हाल है। दो-चार ड्रामों का रिहर्सल किया बस ख़तम। यहाँ तो दिमाग़ी काम है।"

"हमारे यहाँ साहब काम बहुत है। आप इतनी मेहनत करते हैं कि मुझे ताज्जुब होता है।"

"फिर भी तो हमारे सुनने वालों की शिकायत रहती है। मगर हमारी बला से। हमें तीस दिन के प्रोग्राम बनाने से मतलब।"

"जी हाँ और क्या।"

"बारह अगस्त को शाम के वक़्त कौन गा रही हैं, कुछ याद है।"

"जी अभी देख कर बताता हूँ।"

"और तेरह के सुबह कौन गा रही हैं?"

"बारह की शाम को माहताब बाई हैं और तेरह की सुबह को सितार जान गा रही हैं। दोनों पहली मर्तबा बुक हुई हैं।"

"कैसा गाती हैं दोनों ?"

"मैंने नहीं सुना। मगर आपने तो सुना होगा।"

"माहताब की सिफ़ारिश तो मेरे एक दोस्त ने की थी। उससे कुछ मिलना-जुलना था। एक मर्तबा मेरी भी दावत की थी। और सितारा जान का ऑडिशन मालूम नहीं किसने लिया। ख़ैर, पूँछ लेना।"

"जरा समानों की लिस्ट को फिर से चेक कर लीजिये। प्रोग्राम भेजना है।"

"अभी देखता हूँ। एस० डी० साहब (स्टेशन डाइरेक्टर साहब) से भी तो डिसकस करना है। आफ़त में जान है। अरे सुनो तो। मिस चंदा के गीत रखे हैं कि नहीं ? एस० डी० साहब नाक में दम करेंगे अगर यह प्रोग्राम न हुआ।"

'नहीं, नहीं, कहीं ठुस-ठांस कर देंगे। आप जैसा हुक्म देंगे, हो जायेगा।"

"अरे मेरा हुक्म क्या, बड़े साहब का आर्डर है। कल जानते हो क्या हुआ ? डी० पी० साहब (डाइरेक्टर प्रोग्राम) ने बुलाकर मुझसे कहा कि मास्टर अजमद के दो प्रोग्राम हर महीने होना चाहिये। मैंने कहा, साहब यह तो मुश्किल होगा क्योंकि पक्के गानों के ज़्यादा प्रोग्राम कैसे रक्खे जा सकते हैं ? इस पर डी० पी० साहब बड़े अकड़ कर बोले 'मेरा आर्डर है।' कल से डी० पी० हो गये हैं तो जमीन पर पैर नहीं रखते। मैं तो एस० डी० से इसका ज़िक्र जरूर कर दूँगा।"

"बात तो ज़रूर बेजा है।"

"जान खिज जाती है मेरी।"

"इसमें क्या शक़ ?"

"धुरपद के लिये कोई नहीं मिल रहा है। बाहर से किसे बुलवायें ? दस मिनट का मामला है। चुन्ने कह रहा था

कि क्लारनट वालों को दो-चार धुरपद याद हैं। उसी से गवा देंगे।"

"जी हाँ, और क्या ?"

"याद रखना सातवीं की शाम के चालीस मिनिट के प्रोग्राम के बारे में। मैंने उसका नाम रखा है 'साज़ और नाद के नख़रे।' कैसा नाम है ?"

"बहुत उम्दा।"

"और नौ के प्रोग्राम का नाम मैंने रखा है 'बुलबुल की चहक।' "

"वाह वाह।"

"ये नाम सूझते किसे हैं ? लिसनर्स पढ़ते ही लट्टू हो जायेंगे। प्रोग्राम बनाने की यही ख़ूबी है। यह मेरी सूझें हैं।"

"इसमें क्या शक ?"

"ज़रा दो प्याले चाय का आर्डर कर देना।"

चिल्लाकर "दो प्याले गरम चाय भेज देना ग़फ़ूर। दूध कम हो।"

"फिर मैंने बीस की रात को जो आध घंटे का गीत का प्रोग्राम रखा है उसका नाम चुना है 'कोयल की कूक'।"

"वाह वाह।"

"और पचीस को मल्हारों का प्रोग्राम है उसका नाम मैंने 'पपीहे की पुकार' रखा है और छब्बीस की सुबह के प्रोग्राम का नाम 'वहशत'।"

"बहुत सुंदर नाम है।"

"और अठाईस तारीख़ को जो अलग-अलग साज़ों का प्रोग्राम है उसका नाम मैंने बहुत ही चुभता हुआ रखा है याने 'तारों पर उछल-कूद'।"

"यह भी बहुत अच्छा नाम है।"

"तुम्हें कुछ याद है कि सत्रह को मशहूर उस्ताद नन्हू का तबले का प्रोग्राम है।

"जी हाँ।"

"इस प्रोग्राम का नाम मैंने 'बोलों की धर-पटक' रखा है।"

"किसी बीनकार को भी तो आपने बुक किया है।"

"हाँ-हाँ, उनतीस तारीख को बीन का प्रोग्राम है। रागों के अलावा बीन पर ग़ज़ल गीत और भजन भी बजवायेंगे। यह एक नई चीज़ होगी। शाम के वक़्त बीन का ख़ास प्रोग्राम होगा रागों वाला। उसका नाम मैंने रक्खा है 'झंकार और गुदगुदी'। उसी दिन क़व्वाली भी है। चूंकि लोग बीन कम सुनते हैं और क़व्वाली ज़्यादा, मैंने बीन के लिये बस यही दस-दस मिनिट रक्खे हैं। डी० पी० साहब भी यही कह रहे थे।"

[चाय के दो प्याले आते हैं]

"ग़फ़ूर, चाय साहब की मेज़ पर रखो।"

"नहीं, भाई तुम भी पियो। ग़फ़ूर, एक प्याला बाबू को दे दो।.... हां, और जो ख़ास प्रोग्राम गाने के हो रहे हैं उनके नाम हैं 'मुरली की धुन' 'जगदीश की प्रीति', 'सजनी की हाय', 'साजन के दिल पर चोट', 'करेजवा में पार', 'इश्क़ और सोज़िश।' साज़ों के प्रोग्राम भी हैं जैसे 'सितार पर झिंझोटी की झपट' 'वाइलिन और गिटार के ग़मज़े', 'सरोद पर लड़-गुथाव', 'जलतरंग पर अलाप', 'क्लारनेट पर जोड़', 'साज़ों पर सोज़' या 'साक़ी का छलकता साग़र' या 'तबले और सितार की हाथापाई।'

"बहुत ही अच्छे नाम हैं। और कोई स्टेशन इन नामों की ईजाद नहीं कर सकता।"

[टेलीफ़ोन की आवाज़]

"हलो ! जी मैं ही प्रोग्राम बनाता हूँ। सुरसागर बाई का प्रोग्राम अगले महीने भी है। जी। मालूम नहीं कहाँ ठहरती हैं।...आदाबर्ज़।"

"कौन साहब थे ?"

"मालूम नहीं कौन थे।......अरे हाँ, गानों की लिस्ट तो लाओ।"

"जी हाँ, ज़रा एक नज़र से देख लीजिये।"

"अच्छा मैं बोलता जाता हूँ तुम डुपलीकेट देखते जाना। अठारह की शाम को साढ़े पाँच बजे बिहाग का ख़्याल। साढ़े आठ बजे देस और दस बज के पैंतीस पर इमन कल्यान।"

"जी हां ठीक है।"

"उन्नीस को सुबह साढ़े आठ पर बिन्द्रावनी सारंग और नौ पर काफ़ी की ठुमरी।"

"जी।"

"बीस की शाम को साढ़े पाँच बजे मालकोश का ख़्याल और आठ बजे दरबारी का अलाप। हां, और मिस चम्पा का भजन भी उसी रोज़ है। भैरवी में बँधा है मगर रात में गाया जा सकता है। हर्ज क्या है ? न मालूम राग-रागनियों के गाने के वक़्त किस बेवक़ूफ़ ने मुक़र्रर किये हैं। अरे कोई राग हो वह किसी वक़्त गाया जा सकता है। क़ैद की क्या ज़रूरत ?"

"जी हां, यह क़ायदे तो पुराने वख़्तों के लिये थे। अब ज़माना और है।"

"बाक़ी गानों को घर पर देख डालूंगा; ज़रा चाय तो पी लूं।"

"जैसी मर्ज़ी हो आपकी। रेस्ट ले लीजिये।"

[डी० पी० साहब का फ़ोन आता है। फ़ोन पर बातचीत]

"हलो। हां देखिये। मेरे कमरे में इस वक़्त मिस रानी बैठी हुई हैं। बहुत उम्दा गाती हैं। इनका एक स्पेशल प्रोग्राम कब हो सकता है ?"

"प्रोग्राम तो बन चुके हैं।"

"कोई हर्ज नहीं, कहीं जगह निकाल लीजिये।"

"एक-आध प्रोग्राम कैंसल करना पड़ेगा।"

"कोई हर्ज नहीं।"

"बहुत अच्छा। आदाबर्ज़ ! (फ़ोन रख देता है)... देखा डी० पी० साहब की धींगाधींगी को ? हर बात में टाँग अड़ाते हैं। यहाँ प्रोग्राम बनाते-बनाते नाक में दम हो गया। और हम लोग कभी किसी प्रोग्राम में ज़रा सी तबदीली कर देते हैं तो कहते हैं डेवियेशन हो गया।"

"चलने दीजिये।"

"ज़रा कमालउद्दीन को आवाज़ देना।"

"कमालउद्दीन, साहब बुलाते हैं।"

कमालउद्दीन आरकैस्ट्रा की तर्ज़ें बनाता है और अभी कुछ दिनों से रेडिओ की नौकरी ग्रहण की है। तेईस या चौबीस वर्ष की अवस्था होगी। गठीला बदन है और साँवला रंग। कई फ़िल्म कम्पनियों में काम कर चुका है। कमरे में घुसता है।

"अरे भाई कमाल। 'बहती गंगा' वाला पीस तैय्यार हो गया ?"

"जी हाँ।"

"और भोर का नग़मा ?"

"जी हाँ, वह भी तैय्यार है।"

"और मल्हार वाली तर्ज़ 'मंडूका आलाप' ?"

"जी हाँ, वह भी क़रीब-क़रीब तैय्यार है। आज हो जायेगा।"

"तुम्हें याद होगा कि मैंने एक आरकेस्ट्रा की तर्ज उस रोज़ बनाई थी जिसका उनमान रखा था 'हाय जवानी'।"

"जी हाँ।"

"अभी आकर उसे ठीक करता हूँ।"

"बहुत अच्छा।"

"तुम्हें तीन-चार तर्जें और बनाने हैं जिनके नाम हैं, 'शबे-विसाल', 'शबे-फ़ुरक़त', 'प्रीत की रीत', 'नक़ाब-पोश'। इनके उनमान मैं तुम्हें समझा दूंगा। उस महीने की आखिरी तारीख़ को रागों का एक ख़ास प्रोग्राम होगा जिसमें आरकेस्ट्रा का एक पीस होगा जिसका नाम मैंने रक्खा है 'रागों का मुरब्बा'।"

"बहुत ख़ूब। और वह दो पीस जो आपने बनाये थे, कल्यान ठाठ की चटनी', और 'भावों की चाशनी ?'"

"हाँ, यह सब अगले महीने में होंगे। अभी रहन दो इन्हें। अच्छा जाओ ज़रा रिहर्सल में मदद दो। मैं अभी आऊँगा।"

"बहुत अच्छा।"

चपरासी आकर कुछ कहता है।

"भेज दो भीतर।"

"आदाब बजा लाता हूँ।"

"बैठिये ख़ाँ साहब। कहिये कैसे आये ?"

"अब की हुज़ूर ने जो प्रोग्राम दिया है उसमें निरी ठुमरियाँ और ग़ज़लें हैं। आप जानते हैं मैं ख्यालिया हूँ और ग़ज़ल ठुमरी नहीं गाता।"

"हाँ, मगर हमारी ज़रूरतें तो समझिये। ख़ाँ साहब,

ख़याल सुनते-सुनते तो लोगों का जी पक गया। अब ठुमरी और ग़ज़ल भी गाया कीजिये।"

"मगर उसके गानेवाले तो आपके पास बहुत हैं। मुझे मजबूर न कीजिये।"

"जो कुछ हो, हम मजबूर हैं। आपको ग़ज़ल ठुमरी गाना ही पड़ेंगे।"

"मगर मैं......"

"मैं इस मामले पर और कुछ नहीं कहना चाहता। आप तशरीफ़ ले जा सकते हैं।"

[ख़ाँ साहब जाते हैं। चपरासी फिर आता है]

"हाँ, हाँ, ले आओ।"

एक बाई जी कमरे में घुसती हैं।

"आदाबर्ज़।"

"आइये-आइये। बहुत दिनों के बाद आईं। क्या कुछ ख़फ़ा हैं आप नशतर बाई?"

"जी नहीं। मेरी क्या मजाल है जो मैं आपसे ख़फ़ा होऊँ।...लीजिये पान नोश फ़रमाइये।"

"शुक्रिया। बटुआ तो बहुत ही अच्छा है? क्या ख़ुद सिया है?"

"जी हाँ, कुछ ऐसा ही है?"

"(संकेत से) भाई, तुम लोगों का तो दिमाग़ ख़राब है। नश्तर बाई के लिये चाय और सिगरेट मँगाओ।

"जहमत न फ़रमाइये हुज़ूर।"

"आप कब कब आती हैं?"

"आपने तो आना ही छोड़ दिया। कल मौक़ा हो तो तशरीफ़ लाइये।"

हँसते हुए, "कोशिश करूँगा।"

"और हुज़ूर मैंने गानेवाले तो भेजे नहीं थे। अब कहिये तो लिखवा दूँ।"

"आप जो चाहें सो लिखवा दीजिये। हमें सब मंजूर है। आप भी क्या बातें करती हैं ?"

"शुक्रिया आप का।"

आरकैस्ट्रा के तीन-चार साजिंदे भीतर आकर सलाम करते हैं।

पहला—"साहब उस तबले की मुड़ी तो बदलवा दीजिये।"

"मैं क्या करूँ ?"

"आर्डर तो दे दीजिये।"

"तुम लोग अगर महीने में दो-दो जोड़ी ख़राब करोगे तो काम कैसे चलेगा।"

"काम भी तो पड़ता है हुज़ूर।"

दूसरा—"साहब मेरी सारंगी के तार भी बदले जायेंगे।"

तीसरा—"मेरा वाइलिन भी ठीक होगा हुज़ूर।"

चौथा—"गिटार का भी रिपेयर होना है।"

तीसरा—"तंबूरों की जवारी खुलना है।"

"क्या आफ़त है। तुम लोग मेरी जान क्यों खा रहे हो ? ज़रा चैन तो लेने दो।"

तीसरा—"मिरज से तम्बूरों का जोड़ा मँगवा लीजिये। बरसों चलेगा बरसों।"

"फिर वही बात। दिमाग़ क्यों चाट रहे हो ?"

कमाल—"साहब, वो सपेरावाला आइटम आज ही तो है; अभी रिहर्सल बाक़ी है। क्या आप तशरीफ़ लायेंगे ?"

(चायवाला बिल लेकर आता है) "हुज़ूर, पिछले पैसे अभी नहीं मिले हैं।"

"क्यों साहब, बंबई की बाई जी का तार आया कि नहीं ?"

"मुझे क्या मालूम ?"

कमाल—"साहब औरतों के प्रोग्राम बड़ा परेशान करते हैं। अभी फिर बुलाया है हम लोगों को।"

"बग़ैर मेरी इजाज़त के वहाँ हरगिज़ मत जाना। म्यूज़िक का मालिक मैं हूँ। समझा क्या है उन लोगों ने ?"

[फ़ोन की आवाज़]

"हलो। जी हाँ, मैं हूँ। क्या एस० डी० साहब बोल रहे हैं। गुडमारनिंग सर··· जी····जी··· मेरा ट्राँसफ़र ? मेरा ? कहाँ ? दिल्ली को ? ··मगर आर्डर आया है ? अभी ? हलो ! हलो सर।"

यह हमारी तीसरी मजलिस है

बड़े शहरों में जहाँ कहीं पढ़े-लिखे और सभ्य मनुष्य रहते हैं, पतंगबाज़, बटेरबाज़, कबूतरबाज़, चंडूबाज़, चरसबाज़ इनकी भी कमी नहीं है। साहित्य और कला में जिस प्रकार वादों की भरमार है जैसे प्रतीकवाद, प्रतिबिंबवाद, मज़दूरवाद, पूँजीवाद, यथार्थवाद आदर्शवाद इत्यादि उसी प्रकार बाज़ों की भी कमी नहीं है। कुछ दिनों के पश्चात् रेडिओवाद की बीमारी काफ़ी फैल जायेगी; और रेडियोबाज़ी का शौक़ अभी भी कम नहीं है। नैनीताल की झील के किनारे मछली का शिकार खेलने वाला, "क्रौसवर्ड पज़ल" का हल करने वाला और रेडिओ की ख़बरें सुनने वाला, यह सब एक ही तरह के दीवाने हैं। रेडिओबाज़ी अमीरों और काहिलों का मशग़ला है। अनपढ़ा ख़बरें सुनता है। मनचला कोयल के से कंठ वाली ख़ूबसूरत शरीफ़ज़ादियों के गीत सुनता है। दिलजला

इश्क़ और ग़म की टके सेर वाली ग़ज़लें सुनकर आसूदा होता है। कुछ हो, यह तो मानना ही पड़ेगा कि आल इंडिया रेडिओ हवा की बुनियाद पर भारतीय संस्कृति की गगनचुम्बी अट्टालिका को खड़ा करता है। हमारे हिंदुस्तान की "रोप ट्रिक" तो मशहूर है। कला, विज्ञान, साहित्य, संगीत और धर्म की जो सेवा रेडिओ कर रहा है माइकेल एंजेलो, डारविन, कालिदास, तानसेन और तुलसीदास कोई भी नहीं कर पाये। वाक़या यह है कि रेडियो ने हवा बाँध रक्खी है। जो कार्य करता है दिनदहाड़े करता है। मांइक्राफ़ोन इसका गवाह है। ख़ून भी करता है तो पुलिस को घूंस देकर। यह क्या कम हुनर है?

जिस प्रकार कोई लीडर चुनाव के वख़्त वोटें बटोरता है या जिस प्रकार जापानी वेश्यायें अपने ग्राहकों को मुरीद बनाती हैं, उसी तरह रेडियो भी अपने ग्राहक पैदा करता है। मुक़द्दमें का गवाह तोड़ा जा सकता है, मगर रेडियो के गाहक की भक्ति अटल और अचूक है। जान-बूझ कर रेडियो ऐसे गाहक बनाता है और वह भी नव्वे फ़ी सदी, जो वफ़ादार रहते हैं। बाक़ी दस फ़ी सदी दीवाने और सिड़ी मिलते हैं। उनसे क्या मतलब? अरे साहब, मैं यह पूँछता हूँ कि इस क्षण-भंगुर संसार में जहाँ समाज माइक्रॉफ़ोन में बोलता है, दस फ़ी सदी आदमियों की क्या वक़त?

रेडियो कहता है कि नव्वे फ़ी सदी सुननेवालों में ऊँचे दरजे की कल्पना और बुद्धि होती है और उसे गर्व है कि समाज ने हाथों-हाथ उसे अपनाया। यह नव्वे फ़ी सदी जन-समाज रेडियो की अपनी ईजाद। इन सुननेवालों को रेडिओ पालता-पोसता है और शिक्षा देता है। ये ही लोग कला, विज्ञान, साहित्य और संगीत को ठीक-ठीक समझते हैं और ये ही उनका उचित समर्थन करते हैं।

बेचारा रेडिओ भारतीय संस्कृति और पुनरुत्थान का बोझ उठाये उन्नति के पथ पर आगे-आगे चल रहा है। स्टूडिओ की लाल बत्ती इसी क्रांति की ज्योति है।

आधुनिक युग के मनुष्य के जीवन के कुछ सच्चे चित्र सामने आते हैं। यह जीती-जागती, सच्ची तसवीरें हैं जिन्हें रेडिओ चाहे तो झूठा बना सकता है।

× × × ×

[एक रेडिओ सेट के सामने कुछ लोग बैठे हैं। रात्रि का समय है। कमरा बन्द है। बातचीत]

"ख़बरें बेकार हैं।"

"फ़िजूल वक्त ख़राब होता है।"

"क्या किया जाय ?"

"हाँ, ड्रामा तो सुनना ही है।"

"ख़ामोश, ख़बरें ख़त्म हुईं।"

"भाई, ज़रा खाँसो मत।"

"चुप रहो।"

"ख़ामोश।"

[पहले रेडिओ पर एलान होता है]

"अभी आप आल इंडिया से ख़बरें सुन रहे थे। अब हम आपके सामने एक ड्रामा पेश करते हैं। ड्रामे का नाम है 'दिलफ़रेब'। यह ड्रामा हिन्दुस्तानी में लिखा गया है और काफ़ी शुहरत हासिल कर चुका है। इसके लिखने वाले मशहूर अदीब जनाब "ख़ंजर" साहब हैं। लीजिये सुनिये।"

[ड्रामा शुरू होता है। सेट के सामने बैठे हुये लोगों में बातचीत]

"वाह वाह !"

"क्या कहने हैं !"

"गीत बहुत अच्छा है।"

"क्या लफ़्ज़ हैं ?"
"सुनाई नहीं देता ठीक से।"
"फिर भी ?"
"तुमने सुना ?"
"हाँ, कुछ-कुछ सुनाई दिये।"
"क्या ?"
"हाय जवानी।
हुई दिवानी।"
"क्या कहने हैं !"
"अच्छा, सुनो तो।"
"ज़रा खामोश रहो तुम लोग।"
"हाँ यार, ज़रा चुप रहो।"
[ड्रामा सुनाई दे रहा है। दूसरे सीन की बातचीत]
"उफ़ ! तुम्हारी बातें नश्तर का काम करती हैं।"
"सूनी रात है।"
"तारे कहाँ छिप गये ?"
"क्या मालूम ?"
"चाँद कहाँ है ?"
"बादल के आँचल में मूं छिपाये पड़ा है।"
"तो तुम क्या जवाब देता हो ?"
"मैं ?"
"हाँ, तुम।"
"मैं क्या जवाब दूँ ?"
"जज़्बात ठुकराये नहीं जाते।"
"तो क्या उन्हें पाल लूँ ?"
"कल क्लब क्यों नहीं आईं तुम ?"
"मैं ?"

"हाँ! कल 'डांस' था। हिज़ ऐक्सलैंसी आये थे।"

"गुडनैस मी। तो क्या मैं ज़रूर आती?"

"बड़ा इंजौयमेंट रहा।"

"रियली?"

"तुम बड़ी नौटी हो।"

"हैंग इट। कुछ और बातें करो। अभी तो बड़े पोयटिक हो रहे थे।"......

"चलो आइसक्रीम खायें।"

"कहाँ?"

"पैराडाइस में।"

"वहाँ रमेश ज़रूर मिलेगा।"

"तो?"

"परेशान करेगा पिकचर्स के लिये।"

"अच्छा, गीत सुनाओ।"

"सुनो! मैं बन की चिड़िया बन कर बन बन......"

"तुम्हारी वोयस बड़ी स्वीट है।"

"धीरे बोलो, कोई आ रहा है......।"

[अनाउंसर का एलान]

"अभी आप मशहूर ड्रामा 'दिलफ़रेब' सुन रहे थे। अब रात के साढ़े दस बजे हैं।......उस्ताद झंडेखां से नारद बीन पर पीलू का दादरा सुनिये। बीन पर दादरा हमारे स्टेशन की जिद्दत है। उम्मीद है हमारे सुननेवाले ख़ुश होंगे।"

[सेट के सामने बैठे हुये लोगों की बातचीत]

"बड़ा फ़र्स्ट क्लास ड्रामा था।"

"यार, आवाज ख़ूब थी उसकी।"

"क्या नाम है उसका?"

"मिस बिजली।"

"यहीं रेडियो पर नौकर है ?"

"हाँ, और क्या।"

"चलो चलें किसी रोज़ मिल आयें।"

"गीत भी ख़ूब गाती है।"

"क्या कहने हैं !"

"मैं तो मर गया भैय्या।"

"सचमुच ?"

× × × ×

[दूसरी जगह। एक रेडियो सेट के सामने कुछ और लोग बैठे हैं। बातचीत हो रही है]

"ख़ुदा के वास्ते दिल्ली मत लगाओ।"

"क्यों ?"

"बस कह दिया।"

"आख़िर क्यों ?"

"अभी जब तुम लोग नहीं आये थे, दो मिनिट पेश्तर मैंने जो दिल्ली पर सुई घुमाई तो पहला गाना हो रहा था। ऐसा भयानक गाना था कि नफ़रत हो गई। 'आ आ आ आ......' कोई तुक है ?"

"ठीक कहते हो।"

"सच है यार।"

"लखनऊ लगाओ। वहाँ से गीत ख़ूब होते हैं।"

"हाँ, हाँ, लखनऊ लगाओ।"

"'लिसनर' में देखना कौन है ?"

"आज पचीस है न ?......हाँ, आज गीत और ग़ज़ल दोनों का बेहतरीन प्रोग्राम है। लगाओ, लखनऊ लगाओ।"

[लखनऊ रेडियो सुनाई देता है]

"अब आप मिस गुलशन से गीत सुनिये।

बोल है 'साजन बिन नहीं नींद' ।''

[सुननेवालों की बातचीत]

"क्या गला पाया है !"

"बहुत ही दिलकश आवाज़ है ।"

"शब्द भी बड़े सुन्दर हैं ।"

"मुझे गीत सबसे अच्छे लगते हैं ।"

"मुझे भी ।"

"पक्का गाना तो समझ में नहीं आता ।"

"रेडिओवाले समझदार हैं । पक्का गाना बहुत कम रखते हैं ।"

"पक्के गाने में रखा क्या है ?"

"इस लाइन को सुनो ।"

"क्या शब्द हैं ?"

"सजनी सुन मेरी बात
अब साजन बिन नहीं नींद"

"भई, लिख लेना ज़रा इसे ।"

[अनाउंसर] "अब आप मिस गुलशन से एक ग़ज़ल सुनिये : 'उस शोख़ ने हँस हँस ही के बरबाद कर दिया ।' "

"ग़ज़ल भी क्या चीज़ है ।"

"भजन सुनो तो मालूम पड़ता है कोई जाड़े में ठंढे पानी से नहा रहा है । ग़ज़ल सुनो तो लगता है कोई रग-रग में समा रहा है ।"

"और गीत ?"

"गीत तो गुदगुदी है; दिलजलों का मरहम ।"

"और पक्का गाना ?"

"हा हा हा ।"

"हा हा हा हा । हाँ पक्का गाना कैसा है ?"

"पक्का गाना सुनो तो ऐसा लगता है जैसे बरसात में बिल्लियाँ लड़ रही हैं।"

"क्या बात कही है !"

"भाई जभी तो रेडिओ इस पक्के गाने से भागता है।"

"तुम्हें मालूम है मैंने रेडिओ से कितने गीत और कितनी ग़ज़लें जमा की हैं ? दो सौ।"

"सचमुच ?"

"भई, यह गुलशन कौन है ?"

"बस गुलशन है पूरी।"

× × × ×

[तीसरे सेट के सामने]

"दो मिनिट रह गये हैं।"

"जल्दी क्या है ? अभी तो क़व्वाली हो रही है।"

"लगाओ, क़व्वाली ही सुनें जब तक।"

[क़व्वाली के शब्द सुनाई देते हैं। सुननेवाले वज्द में आ जाते हैं]

"यारब इन्हीं हाथों से पीते रहें मतवाले।
यारब यही साक़ी हो यारब यही मैख़ाना।
यारब मेरी क़िस्मत में सिजदे हैं इसी दर के।
छूटा है न छूटेगा संगे - दरे - जानाना॥
हम इश्क़ के बंदे हैं मज़हब से नहीं वाक़िफ़
सिजदे से हमें मतलब काबा हो या बुतख़ाना॥"

[अनाउंसर] "अभी आप क़व्वाली सुन रहे थे इशरत-क़व्वाल और उनके साथियों से। अब आप हमारे हिंदी-उर्दू मुशायरे में शरीक होइये। हिंदुस्तान के मशहूर कवी और शुअरा इस मुशायरे में हिस्सा ले रहे हैं। हमें यक़ीन है कि ऐसी अदबी तजवीज़ों ही से हम हिन्दी और उर्दू में इत्तफ़ाक़ पैदा कर सकते हैं। आज के मुशायरे में हिन्दी और उर्दू के शुअरा

ने शरीक होकर इस बात का सुबूत दिया है कि इस मुल्क की जबान एक होना चाहिये। लीजिये सुनिये।"

[मुशायरा हो रहा है। हिंदी और उर्दू के कवि बैठे हैं]

शेर अर्ज़ है कि

'ख़ंजरे-अबरू से मारा आपने।
एक नज़र से आपकी मैं मर गया॥
इम्तहाने-इश्क़ में मैं तीन साल।
तीन नंबर ही से आख़िर रह गया॥'

(प्रशंसा और दाद के नारे) "सुभान अल्लाह! क्या मक़ता कहा है। अहा।......क्या शेर हुआ है!......"

"सुभान अल्लाह!.......'ख़ून' साहब आपका कलाम निहायत उम्दा है।.....वाह वाह।"

(अनाउंसर) "अब जनाबे 'जनाज़ा' ख़ैराबादी आपको अपनी ग़ज़ल सुनायेंगे।"

[जनाज़ा साहब ग़ज़ल पढ़ते हैं। दाद की आवाज़ें सुनाई देती हैं]

"अर्ज़ है कि

उनके कूंचे से मेरा ख़ूब जनाज़ा निकला।
वो समझते थे मुझे मौत नहीं आती है॥

"सुभान अल्लाह।...मरहबा।......वाह वाह।"

"और शेर अर्ज़ है कि

झेंप गये देखकर वह लाश को मेरी फ़ौरन।
बोले, उठ जाओ, बहुत मौत तुम्हें आती है।"

"वाह वाह!...क्या शेर है। तख़य्युल की बुलंद परवाज़ों का क्या कहना!"

(अनाउंसर) "अब आपको हम जनाबे 'वहशी' बिनावरी का कलाम सुनवाते हैं।"

[जनाबे "वहशी" साहब बड़ी देर तक अपनी ग़ज़ल पढ़ते हैं। दो-एक शेर ऐसे पढ़ते हैं जिन पर बहुत दाद मिलती है]

"अर्ज़ है हज़रत कि

सेहरा-सेहरा जो फिरा हिज्र में आवारा मजनूं।
लैला को रंज हुआ, लैला को अफ़सोस हुआ॥"

"वाह वाह। वहशी साहब, इस शेर का जवाब नहीं। 'लैला को अफ़सोस हुआ'—क्या बात कही है। अहा हा।··· क्या शेर कहा है।······ फिर से फ़रमाइये।··सुभान अल्लाह?"

"शेर अर्ज़ है कि

तेरा मयख़ाना भी साक़ी बला का झूठा है।
कौन कहता है कभी पी के मैं मदहोश हुआ?"

"अहा हा!······मुक़र्रर इरशाद!"

[जितनी देर तक ग़ज़लें पढ़ी गईं हिन्दी के कवि चुप बैठे रहे। न मालूम क्यों]

[अनाउंसर] "अब आप देहली के मशहूर कवि 'अलबेला' जी की कविता सुनिये।"

[अलबेला जी देर तक अपनी कविता सुनाते हैं। कविताओं से थोड़ा बहुत प्रशंसा मिलती रही। उर्दू के शुअरा सर ज़रूर हिला देते हैं, मगर उनकी समझ में कुछ नहीं आता]

"भौंरा गूंजे कुसुम पर, कुसुम पड़ी है डार।
ताके देखन को खड़ी रूपवती है नार।"

"बड़ा ही सच्चा चित्र है।...वाह अलबेला जी!"

"प्रीत करे सो मीत से बैरिन प्रीत न होय।
जाके अँसुवन ही नहीं वो बपुरा का रोय॥"

"जी, बड़ा सुन्दर है!...अच्छा भाव है!"

[अनाउंसर] "अब उभियानी के परसिद्ध कवि 'पिशाच' जी की कविता सुनिये।"

["पिचाश" जी अपनी कविता धीरे-धीरे बड़ी देर तक पढ़ते हैं]

"कुछ कर्म करो हे वीरो,
क्यों पीछे तुम हटते हो ?
क्यों आलस का रटना तुम
यों जीवन भर रटते रहो ?
यह विनय पिशाच की सुन लो
क्यों लड़ने से डरते हो ?"

"वाह, पिशाच जी, आपका वीर काव्य अनुपम है। हिन्दी को आप पर गर्व है।...सत्य है!...अति सुन्दर! . धन्य है।"

[अनाउंसर] "घड़ियालपुर के 'त्रिशंकु' जी की कविता सुनिये।"

["त्रिशंकु" जी अपनी कविता गा गाकर पढ़ते हैं]

"जब कोयल कू कू बोले
किस का न मनुआ डोले ?
अरी कोयल बैरिन मेरी
तू काहे को विष घोले ?
मत पिय की याद दिला तू
क्यों मन में मेरे बोले ?"

"वाह त्रिशंकु जी।...अहा हा...त्रिशंकु जी आप का भाषा-चमत्कार और......"

[अनाउंसर] "हमें अफ़सोस है इस वक़्त रात के पौने ग्यारह बजे हैं। इस मुशायरे के सुनने वालों से हमारी दरख़्वास्त है कि वो जो कुछ इसकी तारीफ़ में कहना चाहते हैं हमारे स्टेशन को लिख कर भेजें। मुशायरा अब ख़त्म हुआ। हम कल सुबह साढ़े सात तक के लिये आपसे रुख़सत चाहते हैं।... आदाबर्ज़।"

दिल्ली की सैर

पिछले दिनों में मुझे उधेड़बुन थी कि किसी तरह से रेडिओ में नौकरी मिल जाये। महीनों इस चक्कर में रहा। किसी रेडिओ के कर्मचारी को देखता था तो मन में कई तरह के भाव उठते थे। जिसको देखा उसे दुनिया से निराला पाया। एक बार मन में आया कि एक कहानी लिखकर भेजूं शायद ब्राडकास्ट हो जाये। जनवरी की ठंड में बैठ कर कहानी लिखी। कई बार उसे जोर-जोर से पढ़कर इस बात का अनुभव करने का प्रयत्न किया कि मेरी कहानी का रेडिओ सुनने वालों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। खैर एक दिन कहानी लेकर पहुँचा। सुना था कि सूट-बूट पहन कर जाने से अधिक रोब पड़ता था। कुर्ता, धोती उतार कर और सूट पहन कर पहुँचा। चालीस मिनिट ड्राइंग रूम में बैठने के बाद रेडिओ के साहित्य-विभाग के एक महाशय ने मुझे बुलवाया। खैर साहब, जो वहाँ पहुँचा तो देखा एक हजरत सिगार पी रहे हैं और सामने चाय का प्याला रखा है जिसमें दूध नदारद। पता लगा कि यह महाशय बी० ए० पास थे और अभी एक वर्ष से इस मुहकमें में कला और साहित्य की सेवा में संलग्न हैं। मैं भी बी० ए० था। खैर, अब जो इठला-इठला कर उन्होंने अंग्रेजी बोली तो मैं भौचका रह गया। फिर मेरी कहानी पर उनकी समालोचनात्मक टिप्पणी हुई। साथ-साथ कहानी-कला पर विद्वता-पूर्ण-भाषण और उसकी छान-बीन। मुझे तो बोलने ही न दिया। "जी", "हाँ", "हूँ", "हूँ" बस यही कहते-कहते मेरा मुँ दुख गया।

"कहानी लिखना बहुत कठिन है। यह भी एक प्रकार की कला है जिसका आधुनिक साहित्य में बड़ा सम्मान है। हमारे यहाँ कहानियों की भरमार है परंतु वे कहानियाँ जिनमें मनो-

वैज्ञानिक विश्लेषण की प्रचुरता है, कम हैं। रेडिओ नई शैली का उत्पादक है।"

"जी हाँ।"

"आप इसे छोड़ जाइये मैं फिर से इसे पढ़ जाऊंगा।"

"कब तक इसका निर्णय होगा ?"

"कह नहीं सकता। मगर जो कुछ फ़ैसला होगा बता दूँगा। आप चिंता कर न करें।"

"बहुत अच्छा।"

"और मुझे तो आपसे मिलकर सौभाग्य ही हुआ। आप ऐसे तरुण लेखक ही साहित्य की सेवा कर सकते हैं।"

दो-चार ऐसी लच्छेदार बातें सुनाकर मुझको बिदा किया। चलते वक़्त हाथ मिलाया। मेरे हाथ में बरमीज़ सिगार की बू आई। बहुत तेज़ थी।

दो महीने गुज़र गये। मेरी कहानी का कोई पता न चला। मैंने सोचा क्या मालूम ब्राडकास्ट हो गई होगी। यहाँ रोज़ रेडिओ सुनता कौन है ? चार महीने के बाद एक दिन वह मेरे पास लौट आई। ख़ुशी हुई और रंज भी।

हिम्मत न हुई कि फिर से रेडिओ स्टेशन जाऊँ। मगर बहुत सोचने पर यही ख़्याल आया कि एक मर्तबा और चलें तो क्या हर्ज है ? जाना ही ठीक है "तब दिल ने कहा तुम ही चलो थो तो आ चुके।" लाखों का माशूक़ रेडिओ भला मेरे क़ब्ज़े में कहाँ आ सकता था ? जिगर थाम कर पहुँचे। अब की एक स्पीच याने भाषण लिख कर ले गया। रेडिओ की प्रगतिशीलता और गतिशीलता दोनों का मैं क़ायल था। मैंने कहा कि चलो अबकी बार किसी विषय पर भाषण लिख कर ले चलूँ। और यही किया। टाक्स डिपार्टमैंट वालों के

यहाँ अपना लेख "साहित्य और युद्ध" लेकर पहुँचा। सोचा कि शायद एक-आध टॉक-वाक मिल जाये।

यहाँ भी यही लच्छेदार बातें। वही बरमीज़ सिगार। वही लंबे बाल। वही भड़कीली टाई। वही विलायती उच्चारण—कम से कम उसकी नीलाम वाली नक़ल। सहृदयता का अभाव। साहित्य के ज्ञान की कमी। ज़बरदस्ती की हँसी। स्टेज की बनावटी भाषा। अधूरा उत्साह। भावुकता की बू। और बग़ैर दूध वाली चाय। ......नतीजा ? वही जो पहले हुआ था।

"भाषण हमारे यहाँ बहुत आते हैं। एक महीने में बहुत से टॉक्स बुक होते हैं।"

"जी"

"मैं आपको ख़बर कर दूँगा।"

"ज़रा जल्दी कीजियेगा।"

"नहीं, नहीं, मैं बहुत जल्द आपका टॉक रखूँगा।"

"बहुत अच्छा।"

कुछ न हुआ। तीन महीने के बाद मेरा "टॉक" मेरे पास लौट आया। फिर निराशा। मगर यही सोचा कि रेडिओ बड़ी भारी चीज़ है।

× × ×

यार लोगों ने राय दी कि रेडिओ की नौकरी कर लो। कहानी और टॉक लिखने से तो यही अच्छा है कि नौकरी उठा ली जाये। फिर तो दूसरों को टॉक और भाषण इत्यादि दिया करूँगा। दिमाग़ में सुनहरे स्वप्न मँडराये। एक दिन आयेगा मैं भी एक लम्बी नई पालिश वाली मेज़ के सामने बैठूंगा। मेज़ पर टैलीफ़ोन होगा। दिन भर सारी दुनिया को फ़ोन किया करूंगा। क्या मज़ा आता है "हलो" करने में। सौ रुपये महीने मिलेगा। सब अपने ऊपर उड़ाऊँगा। मेरी

मेज़ पर भी बग़ैर दूध वाली चाय होगी और 'गोल्ड फ्लेक' का डब्बा। दो-चार ऐसी रंगीन और भड़कीली टाइयाँ ख़रीद कर लाऊँगा कि सारा स्टेशन झेंप जाये। जिसको जी चाहेगा, कहानी दूँगा।

......हाँ, और जब मुझ से मिलने बाहर के लोग आया करेंगे तो अंग्रेज़ी इस शान से बोलूँगा कि सुनने वाले यह समझें कि मैं विलायत हो आया हूँ। बरमीज़ सिगार कभी न पिऊंगा। अव्वल तो सिगार से मुझे नफ़रत है। अगर पिऊंगा तो "करोना", "लाइट आफ़ एशिया" वग़ैरह का इस्तेमाल करूंगा। सुनते हैं दिल्ली रेडिओ में ज्यादातर "पाइप" का फ़ैशन है। पाइप ही पिया करूंगा। "उड ऐंड ब्राइन" तो मिलता नहीं।

नौकरी रेडिओ ही में करूँगा। बड़ी शान की नौकरी है। अर्ज़ी भेजी। ट्रेज़री चालान से रुपया जमा किया। बस अब इंटरव्यू की प्रतीक्षा में दिन बीतने लगे। हर लिफ़ाफ़े पर दिल्ली की छाप देखता था। बड़ी मुश्किल से दो हफ़्ते कटे। जो मिलता उससे इसी नौकरी का ज़िक्र छेड़ता और उसे पूरा यक़ीन दिलाता कि मैं बहुत जल्द नौकर हो जाऊंगा। उस दिन मैं बाज़ार में घूम रहा था। इशरत क़व्वाल सामने से आ रहा था। आते ही सलाम किया। "हुज़ूर, अब बसर-औक़ात की मुश्किल हो गई है। क़व्वाली से पेट भरता नहीं।"

"नहीं, नहीं, घबराओ नहीं। मैं......"

"जी हुज़ूर क्या फ़रमाया?"

"अरे यही कि तकलीफ़ें बहुत जल्द दूर हो जाती हैं। घबराओ नहीं।"

"रेडिओ वाले भी समात नहीं करते।"

"क्या रेडिओ पर नहीं गाते?"

"कहाँ हुजूर ? कोई पूंछे भी।"

"दो-एक महीने के बाद तुम्हें बराबर प्रोग्राम मिला करेंगे।"

"क्या कुछ आपने सुना है।"

"नहीं, नहीं, मैं खुद प्रोग्राम दूंगा। मैं यहीं नौकर हो रहा हूँ।"

"हमारी क़िस्मत होगी तो हुजूर यहीं हो जायेंगे। आप ही इंसाफ़ करेंगे मेरा।"

आगे बढ़ा। चाय वाले की दूकान पर एक पंडित जी बैठे थे जिनसे मेरा पुराना परिचय था।

"कहिये पंडित जी, आज कल क्या कर रहे हैं ?"

"कुछ नहीं बेकारी है।"

"सचमुच ?"

"जी हाँ बाबू जी।"

"अच्छा पंद्रह-बीस रोज़ में मिलियेगा। यहीं रेडिओ में लगवा दूंगा।"

"बड़ी कृपा होगी आपकी।"

"नहीं, वह मैं कर दूंगा। आप चिंता न करें।" पंडित जी ने हाथ जोड़ कर सलाम किया। मैं अकड़ के आगे बढ़ा। इस तकल्लुफ़ में चाट भी न खा सका हालां कि मूं में पानी आ गया।

× × ×

.........."हलो। दिस इज़ रेलवे इनक्वायरी। जी।"

"दिल्ली की गाड़ी कितने बजे छूटती है ?"

"आठ बज कर बीस पर।"

"दिल्ली कब पहुँचती है ?"

"तीन बजे रात को।"

"थैंक्यू।"

ताँगा लेकर स्टेशन पहुँचा। कल इंटरव्यू है, पहुँचना है। इंटरक्लास से कम क्या सफ़र किया जाये? आध घंटे ताँगे वाले से खूब तकरार हुई। उधर बुकिंग आफ़िस वाले रेज़गारी देने से इंकार कर रहे थे। बड़ी मुश्किल से "व्हीलर" की दूकान से दो सिनेमा के रिसाले खरीद कर रुपये के पैसे लिये। दिल्ली जाना क्या हुआ आफ़त हुई।

खुदा-खुदा करके गाड़ी चली। दूसरे स्टेशन पर एक लाला जी जो अधेड़ उम्र के थे और जो बहुत मोटे थे, डब्बे में घुसे। बड़ी कठिनता से उनका स्थूल शरीर दरवाजे में समाया। घुसते ही उन्होंने चिल्लाना शुरू किया। "अरे गोबिंदा, भाग आ। खूब जगह है। ललाइन का हाथ पकड़ के लेवाए ला। शिवदत्त, ओ शिवदत्त, बरतन का बोरा इतईं ले आ। ललाइन भाग आओ। देर काहे करत हो।" मेरी तरफ़ देखकर लाला जी गिड़गिड़ा कर बोले "बाबू जी, तकलीफ़ तो होगी, जरा थोड़ी सी जगह दे दीजिये।" शराफ़त भी बड़ी कमजोर दलील है। गुस्सा तो आया मगर लाला के मुटापे पर न मालूम मुझे क्यों तरस आ गया। ललाइन को जो देखा तो वह लाला जी से भी मोटी थीं। हाँफती हुई दर्जे में घुसीं। मेरी करुणा उमड़ आई। देशाटन में मानवता का विशाल रूप सामने आ गया। ललाइन कई टोकरिओं समेत मेरे पैर के पास आकर बैठ गईं। मैं लेटा था, सिकुड़ कर बैठ गया। मेरी सीट के सामने लाला जी का सामान पहाड़ के समान खड़ा हो गया। मेरे जूते उनके बक्सों के नीचे दब कर कुचल गये। ललाइन तो बैठी ही थीं लाला भी इन्हीं के पास आकर मेरी सीट पर पालथी मार कर बैठ गये। जबलपुर की बनी हुई बंदर छाप वाली बीड़ी निकाल कर लाला जी बड़े प्रेम से मेरी तरफ़ धुँआ उड़ाने

लगे। कभी खाँसते थे और कभी मेरी तरफ़ याचक भाव से मुस्कुरा देते थे। ललाइन बैठे ऊँघने लगीं। लाला जी से न रहा गया। मुझसे बातचीत करने लगे। मैं "हूँ" कर दिया करता था।

"मूंग बड़ी महँगी है बाबू जी आज कल।" मैं कुछ न बोला।

"लड़ाई कब ख़तम होगी बाबू जी।"

मैं फिर भी कुछ न बोला।

"दिल्ली में किस मुहल्ले में आप रहते हैं बाबू जी?"

मैंने कहा, "मैं दिल्ली में नहीं रहता।"

"तो ऐसे ही तफ़रीह में जाय रहे हैं?"

"हाँ, यों ही।"

"आप तो किसी मुहकमे के अफ़सर लगते हैं बाबू जी?"

मैंने फौरन कहा "हाँ, और क्या।"

बड़ी मुश्किल से जान छूट पाई थी कि क्या देखा कि ललाइन मेरी आधी सीट पर क़ब्जा जमा कर लेट गई। लाला जी भी ट्रंक पर मूँ रख कर सो गये। मैं बड़ी मुसीबत से बैठा रहा। थोड़ी देर में लाला जी और उनकी अर्धांगिनी ने जोर जोर से घर्राटे लेना शुरू कर दिये। डब्बे के और मुसाफ़िर सो रहे थे। मैं ही जग रहा था। अब नींद कहाँ से आती? ख़ैर बड़ी मुश्किल से रात के ग्यारह बजे तक नींद आई। बहुत थक गया था। दो बजे नींद जो खुली तो देखा कि मेरे पैर लाला जी की तोंद पर हैं और उनकी साँस के साथ ऊपर-नीचे उठते हैं। ललाइन का विराट रूप देख कर गुस्सा आया। घर्राटे अभी तक बंद नहीं हुये थे।

× × ×

……होटल में सामान रख कर "इंटरव्यू" के लिये रवाना हुआ। ताँगे वाला अक्खड़ पंजाबी था। बात करता था

तो मालूम पड़ता था चाबुक मार रहा है। "चंगा है", "की गल है," "तो आडी मेरबानी है बाबू जी"—बस इन्हीं शब्दों से ताँगे वाला मेरे प्रश्नों का उत्तर देता था

इंटरव्यू के स्थान पर बहुत से लोगों की भीड़ थी। एक से एक कपड़े पहने हुये बहुत से नवयुवक उम्मेदवार इधर-उधर घूम रहे थे। कोई टाई सँभालता और कोई पतलून की इस्तरी देख रहा था। ख़ैर, कुछ देर में इंटरव्यू शुरू हुई। जो निकल कर आता था, ख़ुश मालूम पड़ता था। "बाज़ी मार दी"—यही बहुतों के चेहरों पर लिखा था। मैं कम बोल रहा था और मन ही मन व्यंग से उन लोगों पर हँस रहा था।

एक घंटे और चालीस मिनिट के इंतज़ार के बाद मेरा नम्बर आया। दिल धड़क रहा था मगर मैं इंटरव्यू वाले कमरे की ओर तेजी से बढ़ा। कंट्रालर साहब ने जसे ही मैं घुसा मेरी तरफ़ मुस्कुरा कर कहा, "आपका इंतज़ार हो ही रहा था।" फिर प्रश्न शुरू हुये।

"ब्राडकास्टिंग का भारत में क्या भविष्य है।"

"रेडिओ से इस मुल्क को बड़ा लाभ पहुँचेगा। भविष्य में रेडिओ शिक्षा का अनिवार्य अंग होगा," मैंने कहा। इसी प्रकार और प्रश्नों का मैंने उत्तर दिया।

"भाषा के बारे में रेडिओ क्या सेवा कर रहा है?"

"मेरा अपना विचार है कि उर्दू के साथ अधिक पक्षपात हो रहा है। यह अन्याय है।"

"संगीत को रेडिओ से क्या लाभ पहुँच रहा है?"

"रेडिओ के ज़रिये से लोगों को ऊँचे संगीत सुनने का मौक़ा ज़रूर मिलता है मगर कभी-कभी। अधिकतर रेडिओ एक सस्ते और बाज़ारू संगीत ही का प्रचार कर रहा है।"

"आपकी क्या तजवीज़ है इस मामले में?"

"हर स्टेशन पर संगीत जानने वाले पढ़े-लिखे आदमी रखना चाहिये। अब तक रेडिओ में ऐसे लोगों की कमी है।"

"आप कुछ लिखते हैं ?"

मैंने अपने बहुत से लेख दिखाये।

कंट्रोलर साहब फिर मेरी तरफ़ देखकर मुस्कुराये और बोले, "आल इंडिया रेडिओ आप ऐसे नौजवानों की ख़िदमत चाहता है। आप ऐसे लोग ही रेडिओ में इनक़िलाब पैदा कर सकते हैं। आपकी क़ाबलियत और सूझ से हम सब निहायत ख़ुश हुये।" मैं बाहर निकल आया अकड़ कर। सामने धरती नहीं सूझती थी।

अब क्या था ? आख़िर सब्र का फल मीठा होता है। मालूम पड़ता है कंट्रोलर साहब मुझे दिल्ली ही में रख लेंगे। बड़े शरीफ़ आदमी हैं।......यही सोचता हुआ होटल पहुँचा। ख़ुशी में कई आमलेट बनवा कर खा गया। मैनेजर को बुलवा कर मैंने कहा, "देखिये मैनेजर साहब, अगले माह से मैं यहीं दिल्ली रेडिओ में नौकर हो रहा हूँ। मैं इसी होटल में रहा करूंगा। आप मेरा माक़ूल इंतज़ाम कीजिये।"

मैनेजर—बहुत अच्छा, जैसा आप फ़रमायें। हम तो ख़ादिम हैं आपके।

मैं—ज़रा इससे बड़ा कमरा चाहिये।

मैनेजर—बत्तीस नम्बर ले जीजिये। बाथरूम साथ ही लगा है।

मैं—क्या होगा खाने और रहने का ?

मैनेजर—चालीस रुपये माहवार।

मैं—ठीक है। मगर मुझे एक नौकर की भी ज़रूरत होगी। दफ़्तर जाना है। वहाँ खाना कौन पहुँचायेगा ?

मैनेजर—मैं सब इंतज़ाम कर दूंगा। आप फ़िक्र न करें।

× × ×

······दूसरी गाड़ी से लौटा। इशरत क़व्वाल का क्षुधा-पीड़ित चेहरा आँखों के सामने आया। मैंने उसी क्षण प्रतिज्ञा की कि इशरत क़व्वाल को दिल्ली बुलाकर प्रोग्राम दूंगा। और वह पंडित जी जो चाट की दूकान पर मिले थे? हाँ, उन्हें भी दिल्ली बुलाकर रेडिओ में कहीं लगा दूँगा। बड़ा मुहल्ला है, सब खप जाते हैं।

घर पहुँचा। शहर में जो मिलता बस उससे अपनी ही बात करता।

दो महीने बाद एक दिन इंटरव्यू का नतीजा पता चला। मैं नहीं लिया गया। मेरे मुहल्ले के पास एक रईस रहते थे जिनका लड़का आवारा था और दिन भर मोटर में इधर-उधर फिरा करता था वह। रेडिओ की नौकरी में चुन लिया गया और यह सुना कि वह दिल्ली तैनात हुआ है। मेरा दिमाग़ चक्कर खाने लगा।

हिसाब लगाया तो पता चला कि दिल्ली आने-जाने में ही मेरे सौ रुपये ख़र्च हो गये। यह भी उधार लिये थे। हे रेडिओ भगवान, तेरे भेद समझ में नहीं आते।

रेल का सफ़र

मशहूर है कि गिरगिटाम रंग बदला करता है। गौर करने से पता चलता है कि मनुष्य भी सुबह से शाम तक कई केंचलियाँ बदलता रहता है। अभी यह रंग है तो कुछ देर के बाद दूसरा रंग है। मनुष्य का प्रति दिन का जीवन बहुत परिवर्तनशील है। लुत्फ़ यह है कि हम और आप यह समझते हैं कि

परिवर्तन साल में एकआध बार हुआ करते हैं, रोज़ रोज़ नहीं। एक वर्ष के बाद हर आदमी की एक साल उम्र बढ़ जाती है। शायद कुछ धन प्राप्त हो जाता है; कुछ यार-दोस्त बढ़ जाते हैं; और अगर सरकार की कृपा हुई तो मिस्टर से रायबहादुर भी हो सकते हैं। शरीफ़ आदमी रोज़ रोज़ नहीं बदला करते। क़याम तो हर में होता है। संयमी अपने को अचल हिमालय सा समझता है। जुआड़ी अपने को धैर्य का पुतला समझता है। शराबी की दुनिया में घड़ी के काँटे नहीं चलते; उसके अनुभव शून्य में विलीन हो जाते हैं, वह अपनी जगह क़ायम है। किसी सूटधारी से पूछिये तो वह भी यही कहता है कि वह अचल है और रोज़ रोज़ नहीं बदलता। औरों को छोड़िये। शाम की नमाज़ के बाद एक वृद्ध मुसलमान लीडर कुछ ऐसी शक्ल बदल लिया करते थे कि पहचाने नहीं जाते थे। ग़रज़ यह है कि जिसको देखा, काला हो या गोरा, सुबह से शाम तक रंग बदलते ही देखा।

रेल-यात्रा में मनुष्य अपनी असली केंचली उतार कर रख देता है। वह अपने को मुसाफ़िर या यात्री ही समझता है। उसका उठना, बैठना, सोना, खाना-पीना, बातचीत करना, सब यात्रा के सिद्धांतों पर अवलंबित रहते हैं। वह अपने को इंसान नहीं समझता। मामूली टिकिट देखने वाला रेलवे का कर्मचारी भी उसे उसी नज़र से देखता है। हर टिकट चेकर यही पूँछता है "मुसाफ़िर, तुम्हारा टिकिट कहाँ है?" वह चाहे आपको पंडितजी कहे, या मौलवी साहब कहे या मिस्टर कहे या साहब कहे या सेठ जी कहे या बाबूजी कहे या लालाजी कहे, या सर कहे या महाशय कहे, कुछ कहे, या कुछ न कहे, मगर याद रखिये, वह आपको एक मुसाफ़िर ही समझता है। आप अपने दिल में चाहे जो समझिये, आप मुसाफ़िर ही हैं। किसी बड़े

से बड़े आदमी का एक सूटकेस रास्ते में अगर चोरी हो जाये तो रेलवे यही कहती है कि "पैसेंजर" का सामान चोरी चला गया। ख़ुदा तो सबको एक ही दृष्टि से देखता है। मगर उसके रचे संसार में भी कुछ लोग ऐसे हैं जो निष्पक्ष भाव से हर वस्तु को देखते हैं। तवायफ़ या वेश्या बड़े से बड़े को "आसामी" ही समझती है। पुलिस भी बड़ी बेमुरव्वत होती है। चाहे कोई मिडिल पास हो या एँट्रेंस, चाहे कोई चमार हो या रायबहादुर, घुड़दौड़ का जुआड़ी या ख़ानबहादुर, औरत या मर्द, कोई हो, जब कहेगी तो "मुलज़िम" ही कहेगी। रेलवे भी इंसान को इंसान नहीं समझती, मुसाफ़िर ही समझती है। डाक्टर को भी ज़रा शर्म नहीं आती कि कौन क्या है। जब सुना तो उसके मूँ से हर एक बड़े-छोटे के लिये "मरीज़" या "रोगी" शब्द ही सुना। बड़े-बड़े शरीफ़ वकीलों को देखा जो आपसे बड़ा मित्र-भाव रखेंगे, ख़ातिर करेंगे, साथ में सिनेमा जायेंगे और घुलेंगे मिलेंगे भी। मगर जनाब ज़रा क़ानून ने आपके कान उमेठे और पुलिस ने धर पकड़ा और कचहरी के सब्ज़ बाग़ देखने पड़े तो वही वकील दोस्त जो रोज़ बेतकल्लुफ़ी से आपसे मिलते थे, आपकी पीठ मुड़ते ही दूसरे से कहेंगे "मुवक्क़िलों के मारे नाक में दम है।" गोया आप अब कोई हस्ती नहीं रखते, केवल एक मुवक्क़िल हैं। रेडिओ की समदृष्टि में गीत गाने वाली बेड़न और कला पर भाषण देने वाले युनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर दोनों आरटिस्ट हैं, दोनों मज़दूर हैं अपनी अपनी जगह। रेडिओ के विराट शरीर में नंगी कामुकता से लेकर दर्शनशास्त्र तक सब समा जाते हैं।

रेल के डब्बे में मुसाफ़िर बन कर अजीब अजीब अनुभव होते हैं। हर आदमी आज़ादी का असली आनंद रेल-यात्रा में ही भोगता है। मगर हाँ, हो तीसरा डब्बा। रेल के डब्बे

मनुष्य की इज्ज़त का बहुत कम ख़्याल करते हैं। समाज में जितने मुख्य मुख्य ग़रीब और अमीर वर्ग हैं उनकी आर्थिक मर्यादा का पता रेलगाड़ी ही से चलता है। फ़र्स्ट क्लास का तटस्थ भाव सदैव एक सा रहता है। उसमें एक प्रकार का वैराग्य सा रहता है जो उसे और डब्बों से अलग करता है। तीसरे दर्जे वाले उससे बहुत डरते हैं। उनकी समझ से वह बाहर है। इस डब्बे का अपना निराला रंग होता है। अन्दर घुसते ही आपको उदासीनता का भाव प्रत्यक्ष दिखाई देगा। हर चीज़ ख़ामोश दिखाइ देगी सिवाय बिजली के पंखे के। यह मरघट की ख़ामोशी है। डब्बे में घुसिये और बैठ जाइये। वह डेवढ़े दर्जे वाली बेतकल्लुफ़ी यहाँ नहीं है कि आपको देखते ही कोई पहचान जाये और कहे "आदाबर्ज़, आइये इधर चले आइये, जगह काफ़ी है। कहाँ जा रहे हैं? मिजाज तो अच्छे हैं? बच्चे अच्छे हैं? क्या आगरे जाइयेगा?......सूटकेट नीचे डाल दीजिये। टोकरी ट्रंक के ऊपर रख दीजिये। ओहो, बहुत दिनों के बाद दर्शन हुये। कहिये, मिजाज तो अच्छे हैं? मजे में बैठ जाइये। हाँ, तो सुनाइये।" अभी आप हाँप ही रहे हैं और किसी ने एक साँस में इतने प्रश्न कर डाले। फ़र्स्ट क्लास में यह कुछ नहीं होता। आप भीतर घुसिये। कुली से सामान रखवाइये। चुपचाप बैठ जाइये। अपना अख़बार उठाइये और पढ़िये। अगर झाँसी जाना है तो कानपूर पर खाना मँगवा कर खाइये। सिगरेट पीजिये। मगर अच्छे क़िस्म की। ज़्यादा अँगरेज़ी बोलिये चाहे ख़ुद से या कुली से या बरफ़ बेंचने वाले से या टिकट चैकर से। डब्बे के अंदर तो लोग ऐसे ख़ामोश रहते हैं मानों साँप सूंघ गया है। शीशे में बन्द मुर्दा अजायब घर के पुतलों जैसे होते हैं। बग़ैर परिचय के बात करना असभ्यता है। हावड़े से लखनऊ तक दो मुसा-

फिर बैठे चले आये और बात न हुई। दोनों इसी प्रतीक्षा में रहे कि पहले कौन बोले। वाह रे इन्तज़ार !

सैकेंड क्लास भी अच्छा ख़ासा शरीफ़ कंपार्टमेंट है हालाँ कि आजकल उसमें ऐरे-ग़ैरे नत्थू-ख़ैरे सभी सफ़र करते हैं कभी टिकिट के साथ और कभी बग़ैर टिकिट के। मध्य श्रेणी के पढ़े-लिखे लोग जो "गोल्ड फ़्लेक" पीते हैं और चौदह आने वाला वेजीटेरियन थाल मँगवा कर खाते हैं अक्सर अकड़ कर कहते हैं "अजी कुछ न पूछिये, आजकल तो इंटर विंटर में जगह मिलती नहीं। आराम भी तो कोई चीज़ है दुनिया में। यही होता है, कि सैकेंड ही का टिकिट खरीदना पड़ता है। साफ़-सुथरी जगह बैठने जी चाहता है। अभी उस दिन की बात है पटने से आ रहा था। तिल रखने की जगह नहीं थी। रात को सोना ज़रूरी था। सेकैंड ही में जा बैठा। क्या किया जाय साहब !" इस डब्बे में भी थोड़ी-बहुत ख़ामोशी होती है मगर फिर भी एक इंसान दूसरे इंसान से मिलता-जुलता है। मगर अकड़फूं नहीं जाती। सेकैंड क्लास में सफ़र करने वाले ऐसे भी होते हैं जो तीसरे और डेवढ़े वालों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। अक्सर कहते सुना होगा, 'आदाबर्ज़ ! कहिये, क्या इसी गाड़ी से चल रहे हैं ? मैं सैकेंड में हूँ। आप भी यहीं चले आइये। ··· ······जी··· ··· ···आप क्या डेवढ़े में हैं !··· तो···जी···तो मुग़लसराय पर मुलाक़ात होगी। आदाबर्ज़।" एक क़िस्म के और प्राणी होते हैं जो अपनी आबरू को सुरक्षित रखने के लिये इस डब्बे में सफ़र करते हैं। मगर कब ? जब फ़ासला लंबा न हो और "भाड़ा" खले न।

डेवढ़ा वाक़ई डेवढ़ा है। इसमें डेवढ़ी इज़्ज़त ज़रूर पैदा हो जाती है। आप इसमें बैठते ही अपने को डेवढ़ा पाइयेगा हर बात में। वज़न में डेवढ़ा; इज़्ज़त में डेवढ़ा; सामान में डेवढ़ा;

ख़ुराक़ में डेवढ़ा; लंतरानी और लफ़्फ़ाजी याने वाकचातुर्य में डेवढ़ा; शराफ़त में डेवढ़ा; रज़ालत में डेवढ़ा; मित्र और दुश्मन बनाने में डेवढ़ा; तकरार और झगड़ा करने में डेवढ़ा; और सिगरेट पीने और पान खाने में भी डेवढ़ा। क्या-क्या लोग मिलते हैं इस डेवढ़े में। इसका उदाहरण संसार की और रेलगाड़िओं में नहीं मिलता। यह डब्बा आबरू खूब रखता है। तीसरा डब्बा इसे अपनी सौतेली माँ से कम नहीं समझता। सैकेंड में आप शराफ़त से बैठे रहते हैं; अगर सोना है तो आप अपनी सीट पर लंबे होकर लेट जाते हैं। मगर इंटर में आप चाहे पतलून पहने हों चाहे धोती और चाहे चूड़ीदार पैजामा दोनों पैर ऊपर करके बैठिये और चाहे जिससे गप उड़ाइये। हाँ, यह ज़रूर है, इस डब्बे वाले बड़े उम्दा-उम्दा झूठ बोलते हैं और माथे पर शिकन तक नहीं आती। लम्बा सफ़र होता है। कहाँ तक सच बोलें? झूठ बोलना ही पड़ता है। यह वह डब्बा है जहाँ आप चाहें तो तेल की पूरियाँ खाइये या चाट खाइये, या कबाब पराठें खाइये या कुछ न खाइये और यों ही बैठिये यह दिखाते हुये कि आप घर से खाकर चले हैं या यह कि स्टेशन का खाना आपके लायक़ नहीं। दरी में बिस्तर बिछा हो तो अच्छा है। मगर होलडाल हो तो क्या कहने हैं। साथ में चमड़े का सूटकेस हो तो सोने पर सुहागा हो जाये। बात-चीत का शोर चिड़ियाख़ाने के शोरोगुल से कम नहीं होता।

मगर हिंदोस्तान में जिसे रेलगाड़ी कहते हैं उसका नाम है तीसरा डब्बा। मानव-संसार यहीं आकर सिमट कर बैठता है। यह सब दर्जों से अलग है। वैसे तो भारतवर्ष की रेलों के डब्बों में संख्या से अधिक आदमी तो हमेशा बैठते हैं, मगर क्या मजाल है कि तीसरे में लिखी हुई संख्या से तिगुने और चौगुने न बैठें? इंटर में तीसरे दर्जे वाला घुसता है तो निकाल

दिया जाता है, "भागो, भागो, यह डेवढ़ा है"। सेकेंड में इंटर वाला घुस जाये तो थोड़ी-बहुत सहानुभूति अवश्य दिखाई जाती है। और अगर तीसरे में इंटर वाला घुस आता है तो तीसरे दर्जे वाले समझते हैं उनकी इज्जत बढ़ गई। आप इंटर में बैठिये तो कभी-कभी आपकी बग़ल में बैठा हुआ सफ़ेदपोश, क्लीन शेवन शरीफ़ प्रश्नों की बौछार कर देगा। "आप क्या तनख्वाह पाते हैं? आपके पास कितने बच्चे हैं? (गोया हर शादी शुदा डेवढ़े ही में चलता है।) आप कहाँ तक पढ़े हैं? आपके बाप क्या हैं? मर गये या जिन्दा हैं? आपके कोई और भी भाई हैं? आप फ़लाने को जानते हैं? आप ढिकाने को जानते हैं? आप कौन जात हैं? आपके चचा कहाँ रहते हैं? आपके नाना किस बीमारी से मरे? आपकी फूफी के भतीजे की बीबी की बहिन के मामू क्या करते हैं? आप अगले स्टेशन पर अगर उतर रहे हैं तो धर्मशाले में ठहरियेगा या किसी होटल में? मैं भी वहीं उतर रहा हूँ। आपका अलाहाबाद में कहाँ मकान है? आप बाबू गिरधारी सिंह को जानते हैं? बाबू प्रेमनरायन को? ठाकुर जीत सिंह को? मिस्टर खन्ना को?" आप अगर शरीफ़ हैं तो "हूँ, हाँ" से कुछ न कुछ उत्तर अवश्य देते रहेंगे। आपको ऐसा लगेगा मानों आप सर्कस के घोड़े हैं। चाबुक पर चाबुक पड़ रही है मगर आप चुपचाप सह रहे हैं।

तीसरे दर्जे में यह कुछ नहीं होता। देहात के ग़रीब किसान और शहर के दरिद्र मजदूर इस डब्बे को अपनाते हैं। साथ में कुछ पढ़े-लिखे और शरीफ़ लोग भी होते हैं। हर क़िस्म का आदमी इसमें बैठता है अगर बैठना उसको कहा जाये। सीट पर, सीट के नीचे चारों तरफ़ लोग खड़े रहते या तला ऊपर बैठते हैं। सोने का तो नाम न लीजिये हालाँ कि अक्सर इस

ग़रीब डब्बे में पंजाब के लम्बे केस वाले सिक्ख, जाँघिया पहने हुये और गन्ने चूसते हुये लंबे-लंबे लेटे हुये मिलते हैं। चाहे सारा दर्जा खड़ा रहे मगर वह अपनी जगह से नहीं हटते। खूब चैन से सोते हैं और हर स्टेशन पर बंबों से बालटी भर-भर कर पानी पीते हैं। ज़रा कहिये तो लड़ पड़ें।

हर स्टेशन पर जैसे ही गाड़ी रुकी कि लोग चिल्लाये. "मुसलमान चाय लाना भैय्या।" "ऐ हिन्दू पानी, इधर आओ। जल्दी करो।" ...."हाँ, एक लोटा और दो।"......"कबाब रोटी, इधर आना। दो-दो पैसे की देदो।"...."पूरी वाले, ऐ पूरी वाले, पाव भर हमें भी तौल दो।"..."अरे अँगनू, पानी तो भर ले।" दर्जे की सीटों पर आकर कोई चीज़ खाना हो या पीना, न मुसलमान रहती है और हिन्दू। मगर कुछ हो। कल्पना भी भूखी-प्यासी रहती है। उसका तो पेट भर जाता है। तीसरे दर्जे में घंटों के सफ़र में भी गाँव के लोगों को कुछ न खाते देखा सिवाय चबैने के।

बेतकल्लुफ़ी भी बला की होती है। अगर सिगरेट नहीं तो बीड़ी माँग कर पी लीजिये। इंटर और सैकेंड का मुसाफ़िर तो आबरू ही बचाता रहेगा। जूते उतार दीजिये, कमीज़ उतार दीजिये और चाहे जैसे उठिये-बैठिये। मगर जहाँ स्टेशन आया कि भीड़ की भीड़ घुसी। एक ही डब्बे में सब घुस पड़ते हैं। औरत, मर्द, बड़े, छोटे, सब तला ऊपर बैठते और खड़े होते हैं। अक्सर लेवेटरी तक ठसाठस लोग भरे रहते हैं। शहर का आदमी तीसरे डब्बे में अपने को पालतू शेर से कम नहीं समझता। अगर आक्रमण नहीं करेगा तो ग़ुर्रायेगा अवश्य। तीसरे का टिकिट रखते हुये भी वह एक पूरी सीट पर अपना क़ब्ज़ा जमाने का प्रयत्न अवश्य करता है।

"इधर कहाँ आ रहा है रे? देखता नहीं, जगह नहीं है।

तुम लोग शरीफ़ों को लेटने दोगे कि नहीं ?" आगे बढ़ता हुआ देहाती सहम कर वहीं नीचे बैठ जाता है। फिर तो बातचीत शुरू होती है। अख़बार पढ़ने वाला मुसाफ़िर तीसरे दर्जे में देवता समझा जाता है। "सरकार की फ़तह तो ख़ूब होय रही है।.........गेहूँ को क्या भाव है ?......पिसा हुआ आँटा भी बड़ा मँहगा है।......अरे, कुछ न पूँछिये। क्यों साहब, यह गाड़ी अब कहाँ रुकेगी ? सात बजे वाली गाड़ी टूंडले पर कब आती है ?......जरा, माचिस देना बाबूजी।....गर्मी भी ख़ूब पड़ी अबकी साल। जरा पैर हटाना। सँभल कर बैठो। देखते नहीं ऊपर से लोटे का पानी गिर रहा है। ....अपनी गठरी नीचे रख। तोबा-तोबा, किस क़दर शिद्दत की गर्मी है !........ हे भगवान, अब तो बरसो।... काहे रे चैतू, अब तो मंजूरी बढ़ गई है न ?......चप्पलों की न पूँछो, बड़ी मँहगी है। यह कानपूर से लाया था।......अरे अलगू भैय्या, तनिक चिलम भरो।.......लाला जी, बरसात में आना मुश्किल है, कोशिश करूँगा जरूर।...नहीं, कोई मुश्किल नहीं है कादिर मिया। हमार तो जे कहना है कि तफरी करने आओ। दिल को तनिक राहत बकसो। जिदगी में आपसदारी की तो उलफत है ही। जरूरी है यह बात। कोई मुसकिल नहीं।......बाबू जी जरा गोड़े हटा लेओ तो हम पौढ़ जाई।" दिन भर गर्मी में यों ही कट जाता है।

रात्रि के समय जो दृश्य तीसरे दर्जे में दिखाई देता है वह और कहीं नहीं मिलता। अभी एक माह हुये, सफ़र करने का इत्तफ़ाक़ हुआ। यह समझ कर कि रात का मामला है और आजकल महँगी की समस्या है, तीसरे में बैठ गया। ऊँचे दर्जों में सफ़र करने की हिम्मत भी मुश्किल से होती है। सीट तो मिल गई और नींद भी आगई। मगर भीड़ बहुत थी। एक

बार आँख जो खुली तो ऐसा मालूम पड़ा मानो लड़ाई के मैदान में किसी ज़ख़्मी पलटन के बीच में पड़ा हूँ। मेरे तकिये के नौ बटे दसवें हिस्से पर एक लंबी चोटी वाले ब्राह्मण देवता जो दो घंटे पहले मुझे त्याग की परिभाषा बता चुके थे, आराम से अपने बड़े कटहल सदृश सिर को रखे सो रहे थे। मेरे घुटनों तक दूसरी ओर से एक दूसरे महाशय अपने लंबे पैर फैलाये पड़े थे। जब उठने की कोशिश की तो मेरे पैर एक नीचे सोये हुये देहाती के पिचके हुये पेट पर पड़े। चुपचाप बैठ गया। इधर-उधर दृष्टि डाली, सारे डब्बे को इसी हालत में पाया। किसी का लोटा ऊपर से चू रहा था। कोई बैठे-बैठे सो रहा था। कोई खड़े-खड़े सो रहा था। किसी का मुँ खुला था तो किसी की आँखें खुली थीं। दो अधेड़ उम्र के पठान इतने ज़ोर से खर्राटे ले रहे थे कि डर लगता था कहीं उनका दम न निकल जाये। नीचे बीड़ी और सिगरेटों के टुकड़े, पान की पीक़ और पूरियों के पत्तल बिछे हुये थे। एक सेठ जी अपनी स्त्री के पेट पर सिर रख कर सो रहे थे। सेठानी पतिव्रता थीं। चुपचाप सोती रहीं। मगर जो हा, तीसरे दर्जे में सब से ज़्यादा तकलीफ़ उसे होती है जिसे बैठे-बैठे ऊँघना पड़ता है। वह न तो लेट सकता है और न हाथ पर सिर रख कर सो सकता है। बस यों ही बैठा रहता है; नींद के झोंकों में ऊँघा करता है। जैसे ही सिर ऊँघते-ऊँघते नीचे लटकता है, झटका लगता है और यह मालूम पड़ता है जैसे किसी ने ज़ोर से चपत रसीद की। एक महाशय मेरी सीट की पीछे वाली सीट पर बैठे-बैठे यही कह रहे थे। मुझको यह नहीं मालूम था। बड़ी देर तो वह अपने सिर को सामने लटका कर ही ऊँघते रहे। एक बार उन्होंने सिर को पीछे खसका कर ऊँघना शुरू किया। मालूम पड़ता था किसी क्लाक टावर का पेंडुलम चल रहा है।

एक मर्तबा उनकी खोपड़ी का पिछला हिस्सा मेरे सिर से बड़ी ज़ोर से टकराया। मेरा सिर चक्कर खा गया। पीछे मुड़कर देखा तो यह वही साहब निकले जो ऊँघने के पेश्तर फ़रमा चुके थे "ऐ ज़ौक़ तकल्लुफ़ में है तकलीफ़ सरासर"। मैं कुछ न बोला। मगर जब तीन-चार बार यही हुआ तो मेरा सिर दुखने लगा। ऐसा प्रतीत होता था मानों नारियल पर नारियल बज रहा है। उनका सिर बहुत बड़ा और मज़बूत था। ज़ात के सैय्यद थे। मेरा सिर-सिर ही था। कहाँ तक सहता। एक मर्तबा मैंने गर्दन घुमाकर कहा, न रहा गया, "क्यों जनाब, क्या यही शराफ़त है?" उछल कर बड़े सिर वाले सैय्यद साहब बोले, मानों स्टेज पर पार्ट कर रहे थे, "मेरे पास भी टिकिट है जनाब।" मैंने कहा, "मगर दूसरे को तो तकलीफ़ नहीं पहुँचाना चाहिये। आप बराबर अपने सिर से मेरे सिर को टकरा रहे हैं।" इस पर उन्होंने फिर ऊँघते हुये कहा, "फिर तीसरे में क्यों बैठे? इंटर में जाते।" मेरे पास इस ढीट प्रश्न का कोई ढीट उत्तर न था। बात बिल्कुल ठीक कही थी। वाक़या यह है कि ऊँघा कितने प्रकार से जाता है यह देखना हो तो इंटर में कभी न बैठें, तीसरे दर्जे ही में बैठें। यही सोचते-सोचते मैं भी ऊँघने लगा। परमात्मा जाने मेरा सिर सैय्यद साहब के सिर से कितनी मर्तबा टकराया। वह बिना तकल्लुफ़ बैठे रहे।

बीवियों की क़िस्में

साइकिल, मोटर, रेडियो—इन सब की क़िस्में होती हैं। 'हंबर' तो अब देखने में नहीं आती। हाँ, सस्ती साइकिलें हर जगह मिलती हैं। 'फ़ोर्ड', 'मरसीडीज़', 'ओपल', 'ब्युक',

स्टूडीबेकर', 'रौल्स रौयस' नाम की मोटरें अपनी-अपनी जगह मशहूर हैं। और रही रेडिओ सेटस (sets) की बात। उसको न पूछिये। हजामत बनाने के जितने ब्लेड्स न निकले होंगे उतने क़िस्म के सेट्स बाजार में मौजूद हैं। खैर, यह तो हुआ। मगर जनाब बीवियों की क़िस्में कैसी ? नाजुक मसला है, और इस पर टिप्पणी करना भी नाजुक मामला है। मानिये या न मानिये, बीवियों की भी क़िस्में होती हैं। मोटरों के 'ओल्ड मौडल' और 'लेटेस्ट मौडल' अगर होते हैं तो बीवियों के भी कई मौडल होते हैं। संसार में इतने प्रकार की बीवियाँ होती हैं कि समझ में नहीं आता कि इतने प्रकार के मर्द भी हैं कि नहीं। होंगे जरूर, नहीं तो इतनी बीवियाँ कहाँ से पैदा हो जातीं ? ब्रह्मा ने या अल्ला मियाँ ने कुछ सोच कर ही तो यह सारा ढोंग रचा होगा।

जी हाँ, बीवियों की क़िस्में होती हैं। कुछ लोग तो शादी इसलिये करते हैं कि जब कभी बीवियों का मुक़ाबला हो, मुहल्ले में, शहर में, प्रांत में या देश में, तो उनकी बीवियाँ अव्वल आयें। घुड़दौड़ में तो घोड़े अव्वल आया ही करते हैं मगर बड़े लोगों की बीवियों की घुड़दौड़ भी फ़ैशन की रेस-कोर्स में हुआ करती है। कई बार मसूरी, लखनऊ और शिमला के 'डौग शो' देखने का इत्तफ़ाक़ हुआ। वहाँ पर एक मनुष्य की महत्ता और उसका व्यक्तित्व उसके क़ीमती कुत्तों से पहचाने जाते हैं। 'कौकर', 'स्पैनियल', 'ऐलसेशियन', 'फ़ौक्स टैरियर' वग़ैरह इस 'शो' की महान विभूतियाँ हुआ करती हैं। मिस्टर फ़लां और मिसिस ढिकां, राजा फ़लां और नवाब ढिकां का आदर उनके कुत्तों से होता है। किस शान से पट्टा डाले हुए वे अपने कुत्तों के साथ घूमते हैं! मतलब यह है कि मानों वे हर प्राणी से यही कहते रहते हैं, "देखा आपने मेरा कुत्ता। शिमले

में इस क़िस्म का दूसरा कुत्ता न पाइयेगा।" और उन्हें यह मालूम होता है कि मानो हर रिक्शेवाले से लेकर बड़ा से बड़ा आदमी उनसे यही कहता है. "वाह! वाह! सुभान अल्लाह! ईश्वर आपको और कुत्ते दे।" कुछ बीवियाँ भी इसी प्रकार की होती हैं। 'शो' में अव्वल आना ही उनका काम है। उनके मर्दों को उनसे कोई शिकायत नहीं। उम्दा के उम्दा क़ीमती सारियाँ पहन कर अपने बे-आबरू या मिटती हुई आबरू वाले पतियों की इज्जत की रक्षा करना ही इनका परम धर्म है। यही उनका पतिव्रत-धर्म है। प्रतिवर्ष कई मौक़ों पर समाज के आगे उन्हें अपने निखट्टू मियाओं को दो गज़ ऊँचा बढ़ा देना पड़ता है। मिया जब मजदूरी अच्छी देते हैं तो बीवी को अपना कर्तव्य-कर्म पालन करने में क्या आनाकानी? यह बीवियाँ हर जगह नहीं मिलतीं। हर जगह कैसे मिल सकती हैं? बड़े-बड़े शहरों की बड़ी-बड़ी जगहों के छिपे हुए कोनों में मिलती हैं। और ये वे ही रमणियाँ हैं, जो भारतवर्ष के मर्दों का नाम रखती हैं। इन्हीं का नाम पत्रों और पत्रिकाओं में निकला करता है। और इनके मर्द? इनकी न पूछिये। ये वे लोग हैं, जिन्हें दुनियां उनकी बीवियों की बदौलत जानती है? न बीवियाँ होती न नाम होता। आपने पालतू कुत्ता देखा है? जब मालिक साथ होता है तो दूसरों पर खूब गुर्राता है। मालूम पड़ता है, खा जायेगा, बोटी-बोटी चबा कर रख देगा। मगर जनाब, जहाँ ड्राइंग रूम की क़ालीन पर आकर लेटा कि बिलकुल लिबरल होगया। और कहीं आपने उसे डाँट-फटकार दिया, हाथ-पैर से डरा दिया या हाथ में छड़ी ही उठा ली तो फिर दुम हिलाकर चारों पेर से चित्त हो जाता है। मारिये पीटिये, कुछ कीजिये, दुम बराबर हिलती रहेगी। और जहाँ बाहर निकला तो फिर वे ही नक़ली तेवर। क़ीमती मर्द क़ीमती कुत्तों से कम डरपोक नहीं होते।

बाहर के बीबी-शो में तो यह अव्वल जरूर आते हैं मगर घर के भीतर तो बेचारे सुबह से शाम तक दुम ही हिलाया करते हैं। दुम भी अजब चीज़ है, जिसके पास होती है वह बग़ैर हिलाये नहीं मानता।

मैं बीवियों पर कभी कुछ न लिखता। बिला वजह उनको यह भ्रम हो सकता है कि मैं उनके बारे में लिखकर उनकी ख़ुशामद कर रहा हूँ। यह बात नहीं है। असल बात है कि अभी उस दिन एक ऐसी क्रांतिकारी घटना हो गई कि इस विषय पर विचार दौड़ने लगे। अभी उस दिन की बात है कि हमारी आधुनिक हिन्दी के एक रहस्यवाद के ठेकेदार कवि को उनकी अर्धाङ्गिनी, पत्नी, स्त्री-बीबी या औरत जो कहिये, ने क्रोध-वश एक थप्पड़ जमा दिया। कवि महाशय क्षण में जीवात्मा और परमात्मा के मिलन को भूल गये। आध्यात्मिक विचारों से भरा हुआ उनका छोटा सा सिर थप्पड़ की मार से शरीर और आत्मा के संघर्षण का अनुभव करने लगा। 'अनंत' और 'उस पार' वाले विचार ग़ायब हो गये। उनकी स्त्री की खुली हुई, लंबी-चौड़ी हथेली उनके सिर तक आई और फिर लौट गई। दार्शनिक तत्त्वों पर ध्यान देते हुए कवि महाशय ग़ुस्से में अपने कमरे में घुस गये और क़लम उठाकर 'नारी-कुल-कलंकिनी' वाले शीर्षक पर कविता लिखने लगे। दुर्वासा का शाप उतना बुरा नहीं जितना एक मजनू-सदृश्य, दुबले-पतले, पीले चेहरे वाले रहस्यवादी कवि की कविता का। सोचने की बात है कि एक मामूली स्त्री ने एक निहायत ग़ैर मामूली मर्द को कैसे मारा! बात कुछ भी न थी, बतंगड़ बन गया। क्या अधिकार एक स्त्री को है कि हिन्दी के एक धुरंधर विद्वान और कवि से यह पूछे कि वह बेचारे रात के दस बजे तक कहाँ थे? या यह कि यदि वह बेचारे यह कहें कि "तुम्हें क्या मतलब?" तो उनकी स्त्री

अपने पति के काव्य के वाक्य-चातुर्य को न समझ कर अपने थप्पड़ की सख्त गद्य-शैली से उनके सिर पर आघात करे ?

ऐसी बीवियाँ हमेशा अपने मर्दों का नाक में दम रखती है। "कहाँ गये थे ? किसके यहाँ गये थे ? वह हैं कौन ? क्या करते हैं ? कितने पाते हैं ? इक्के पर गये थे तो कितने पैसे खर्च हुए ? ज्यादा तो नहीं खर्च किये ? कमरे में बैठकर इतने घंटे, किताबें पढ़ने से क्या फ़ायादा ? बाहर निकलो और जरा लकड़ी वाले के यहाँ हो आओ। देखो तो पाजी, चार पसेरी से ज्यादा देने को राजी ही नहीं होता ? हाँ, यह तो बताओ, गेहूँ का क्या हुआ ? तुम्हीं दुनिया से निराले हो जो तुम्हें गेहूँ नहीं मिलता। मुहल्ले के आदमियों को सब कुछ मिल जाता है, तुम्हें कुछ नहीं मिलता। मेरी सारी कब आयेगी ? मुन्नी की फ़ीस तो दे आओ स्कूल में ? ऐरे ग़ैरों को चाय-वाय के लिये मत बुलाया करो, खर्च बहुत होता है। मुझसे अब नहीं होता।"""टेढ़ी-टेढ़ी बातें करोगे तो सुनाऊँगी खरी-खरी ? मायके चली जाऊँगी तो आने का नाम लूँगी।"""इस प्रकार ये बीवियाँ अपने मर्दों का अस्तर उधेड़ा करती हैं। ख़ुदा बचाये इन मर्दों को ऐसी बीवियों से। यदि हमारे रहस्यवादी कवि को यह पता होता कि जिस प्रकार साहित्य में शैलियां होती हैं वैसे ही बीवियों की भी क़िस्में होती हैं तो वे बेचारे कभी शादी न करते।

बीवियों की क़िस्मों में एक क़िस्म आजकल बहुत चल रही है। यह हैं हमारे आधुनिक समाज की प्रगतिशील महा-आधुनिक बीवियाँ, जिनका अस्तित्व "डार्लिंग," "स्वीट हार्ट" ऐसे संबोधनों से स्थापित होता है। ये ही स्त्रियाँ हमारे आधुनिक नारी-समाज की स्वतन्त्रता का बीड़ा उठाये फिरती हैं। फ़र्ज़ कीजिये कोई यह प्रश्न करे कि ऐसी बीवियों की पहचान क्या है ? इनको पहचानना मुश्किल नहीं है। ऐसी बीवियाँ यह

समझती हैं कि विवाह एक प्रकार की बैलगाड़ी है। अन्तर केवल इतना ही है कि बैलगाड़ी में दो बैल ही जुते रहते हैं और इस बैलगाड़ी में एक कोल्हू का बैल होता है और एक दो सींगवाली मरखनी गाय। ऐसी बीवियों के चूल्हों की देख-भाल ख़ानसामा और बैरा किया करते हैं। और उनके बच्चों की निगरानी आयायें। मर्द जो करते हैं वे ही ये बीवियाँ करती हैं। ये बच्चे अपनी तोतली ज़बान में भी "अम्मा" और "बाबूजी" नहीं बोलते। क्यों बोलें जब ब्रह्मा ने उन्हें एक अच्छा सा "डैडी" दिया है और एक प्यारी-सी "ममी"? ख़ैर, इसमें कोई हर्ज नहीं। पैदा होते ही हर बच्चे को अधिकार है कि वह अपने बाप को किसी नाम से पुकारे और अपनी वालिदा को अम्मी कहे या ममी, थोड़ा ही सा अन्तर है।

इन बीवियों को जहाँ ढूंढ़िये वहाँ पाइये। ऐसी बीवियाँ न अपने मर्दों को तंग करती हैं और न उनका किसी जगह या किसी बात में साथ छोड़ती हैं। दिन में पाँच-सात सिगरेट पी जाना भी कोई पाप है? घर में लोग आते ही हैं, ख़ातिर करना ही पड़ती है। यदि बीबी-समाज सिगरटें ऐसे मासूम गुनाह से घृणा करेगा तो यह बताइये अतिथि-सत्कार कैसे होगा? और यह भी ग़लत हो तो मैं पूछता हूँ कि कौन भारतवासी ऐसा है जो देश-प्रेम रखते हुए हिन्दुस्तान की सिगरेट कम्पनियों को धुँये वाली तिजारत को न बढ़ाये? सीधी-सादी बात है। और क्यों साहब, अगर सोसायटी में ऐसी प्रवीण, सर्वाङ्ग-सम्पन्न बीवियाँ सायंकाल के समय अगर बेगुनाह, कड़वे बियर को महज़ अख़लाक़न याद रखिये, महज़ अख़लाक़न—अगर पी लें तो क्या हर्ज? और अगर दिन में किसी वक़्त—मौक़ा महल देखकर—ये बीवियाँ अपने मासूम-सिफ़त, शरीफ़ मर्दों की नज़रों को बचा कर अपने समान दूसरी पतिव्रता स्त्रियों के

बेगुनाह खूबसूरत मर्दों के साथ किसी कौफ़ी हाउस में कौफ़ी पीने चली जायें तो क्या हर्ज ? सिनेमा, डांस, पार्टी, वग़ैरह ये तो जनाब, सोसायटी के जीवन के अनिवार्य अंग हैं। बीबियों का फ़र्ज़ है कि अपने मर्दों के साथ बराबर-बराबर चलें। ये मर्द और ये बीबियाँ हमेशा एक दूसरे को "डार्लिङ्ग", "स्वीट हार्ट" और "डिअर", ऐसे स्नेह-सूचक शब्दों ही में बातचीत करते हैं। "प्रिये", "प्राण-प्यारे" इत्यादि शब्दों पर काफ़ी जंग लग चुकी है। दुष्यंत और शकुन्तला का जमाना गया।

कुछ मर्द ऐसे हैं, जिनकी बीवियाँ मिनमिनाती हैं जब वे गुराते हैं। ये नम्र, विनीत भाव वाली बीवियाँ अभी भी इस मुल्क में पाई जाती हैं। मगर बीवियों की यह क़िस्म अब दिन-ब-दिन कम होती जा रही है। मर्दुम-शुमारी से पता नहीं चलता कि अब कितनी और ऐसी बीवियाँ या स्त्रियां मौजूद हैं। ये वह बीवियाँ हैं, जो अपने मर्दों से कभी नहीं झगड़तीं। अगर मर्द रात में देर से लौटें तो वे बग़ैर खाना खाये सो जाती हैं। अगर मर्द उन्हें डाँट दें, या गाली दे दें तब भी वे कुछ नहीं कहतीं। घर से तो निकलना जानती ही नहीं। बहुत कहने पर शायद किसी पार्क तक घूम आयें या बाज़ार से चूड़ियाँ खरीद लायें। उनका घर उनका संसार है। उनके मर्द उनके मालिक हैं, रक्षक हैं और देवता हैं। उन्हें किसी और बात से कोई मतलब नहीं। अपना कर्त्तव्य कर्म पालन करने ही में उनका जीवन बीत जाता है। हम तो समझते हैं कि दस-बीस हज़ार ऐसी बीवियाँ हिन्दुस्तान में हर साल पैदा होती रहें तो राम-राज्य के लिये दस-बीस बरस में काफ़ी होंगी। मर्दुमशुमारी वाले भी अव्वल दर्जे के बेवकूफ़ होते हैं। उनकी समझ में यह नहीं आता कि मर्दों और औरतों की तादाद मालूम करने से क्या फ़ायदा ? फ़ायदा इसमें है कि इसका पता लगायें कि इस क़िस्म की

बीवियाँ किन सूबों में ज़्यादती से मिलती हैं। जब पाकिस्तान का मसला सामने है तो यह ढूँढ़ना निरर्थक न होगा कि पाकिस्तान की हद में इस क़िस्म की बीवियाँ कितनी होंगी और बाक़ी हिन्दुस्तान में कितनी। मैं कहता हूँ, ढूँढ़ने में क्या हर्ज है? ब्रह्मा चाहें तो अभी भी ऐसी-ऐसी बीवियों का निर्माण कर सकते हैं। और यह उनको अख़्तियार है कि संख्या घटाते या बढ़ाते रहें।

क्या मालूम बीवियों की कितनी और क़िस्में संसार में मौजूद हैं। बीबी वाले मर्दों की एक कान्फ्रेंस हो तो यह पता चले। मगर मुश्किल तो यह है ऐसी कान्फ्रेंस में कुछ तो आही न पायेंगे अपनी बीवियों के डर से। कुछ बेचारे छिपा-चोरी से आयेंगे। कुछ आयेंगे तो बीवियों के साथ आयेंगे। और कुछ ऐसे भी होंगे जो अगर आ भी गये तो उन्हें यही डर लगा रहेगा कि कहीं भरी कान्फ्रेंस में स्पीच देते समय उनकी बीवियाँ उनके सर पर सवार न हो जायें। और हमारे रहस्यवादी कवि महाशय अगर आना भी चाहेंगे तो न आ सकेंगे।

अपना पड़ोसी

पास-पड़ोस से कितना सहारा मिलता है, इसे कौन नहीं जानता? आग लग जाये चोरी हो जाये, डकैती पड़ जाये, ओले गिरें, तूफ़ान आये, कुछ हो, मगर तसल्ली इसी बात की रहती है कि जो अपने पर बीती है वह दूसरे के घर पर बीत रही है। और अगर अभी नहीं बीत रही है तो बहुत जल्द बीतेगी। सृष्टि-निर्माण करते समय ब्रह्मा ने प्रत्येक मुहल्ले को एक ही स्वर्ग और एक ही नरक दिया था। फ़र्क़ कभी नहीं हो सकता। हमारे मुहल्ले के एक लीडर हमेशा यही कहते हैं "हमारा

जहन्नम हमसे कोई नहीं छीन सकता।" क्या दावा है! मगर वह यथार्थ में झूठ नहीं बोलते। पीढ़ी दर पीढ़ी उनके देवता-तुल्य बाप-दादों का यही दावा था। मतलब यह है कि मुहल्लेदारी का भाव बड़ा ही सुन्दर है। "पड़ोस" शब्द सुनते ही हमें अपने मुहल्ले के पालतू कुत्ते, छूटी बकरियाँ, कुल्फी मलाई वाले, तरकारी के ठेले वाले, पनवाड़ी, दूधवाले, लस्सीवाले, चनाजोर गरमवाले और बच्चों के रोने-गाने, सब याद आ जाते हैं। अपना मुहल्ला अपनी दुनिया है। उस दिन हमारे मुहल्ले के पार्क में हमारे मुहल्ले के भगतजी ने व्याख्यान देते हुए आवाज़ को ऊँचा करके, स्वर को कँपा कर गर्व से कहा "हम अपने मुहल्ले पर अपनी जान तक निसार कर सकते हैं।" पाँच मिनट तक करतल-ध्वनि हुई। भगतजी फूल कर कुप्पा हो गये।

ख़ैर जनाब, अब सुनिये असली आप-बीती। पड़ोस बड़ी बुरी बला है। मैंने अपना पिछला मकान इसी कारण छोड़ा। अब इस मुहल्ले के छोड़ने का भी पूरा निश्चय कर चुका हूँ। मेरे मकान के बगल में एक पांडेजी रहते हैं जिन्हें मुहल्ला भर "भगतजी" ही कहता है, मगर मालूम नहीं क्यों। एक तरफ़ ये भगतजी या पांडेजी जो कहिये, रहते हैं। बड़े शरीफ़ और सज्जन आदमी हैं। किसी का बुरा नहीं चाहते। बस उनकी कोशिश यही रहती है कि मुहल्ले-निवासियों को अधिक से अधिक सुख पहुँचे। जी हाँ, तो एक तरफ़ तो ये भगत जी रहते हैं और मकान के दूसरी तरफ़ एक रिटायर्ड पुलिस के दारोग़ा जिनका रिकार्ड यह है कि उन्होंने छब्बीस डकैतियाँ पकड़ीं दो सौ चोरियाँ, दो दर्जन क़त्ल, तीन दर्जन गुंडे, तीन मन अफ़ीम और जिनके पिता जंगल में इत्तफ़ाक़ से किसी डाकू की गोली खाकर मर गये। लंबी और काली दाढ़ी थी, मुस्कुराता चेहरा,

तपाक से मिलना और सब को खुश रखना। जिस वक़्त मैंने मकान लिया तो भगतजी सुबह-सुबह दौड़ते हुये आये और बोले, "धन्य हैं हमारे भाग्य। आप ऐसे महाशय यदि इस मुहल्ले में रहेंगे तो हमारी शोभा बढ़ जायगी। और मेरे हर्ष की तो कोई सीमा नहीं। आपका मेरे पड़ोस में आकर रहना मेरे लिए सदैव सुखदायक रहेगा। यह आपकी असीम अनुकंपा है।" मैंने कहा, "नहीं, नहीं भगतजी, यह आप क्या कह रहे हैं? सौभाग्य तो मेरा है। यहाँ आने के पहले ही मैं आपकी प्रशंसा सुन चुका था।" खैर, तो तीन मिनट की इस खींचातानी के बाद, भगतजी ने अपनी चोटी को दोनों हाथों से बटते हुए कहा "स्मरण रखिये महाशय, मैं आपकी सेवा में सदैव तैयार हूँ। संसार के भ्रात-प्रेम का जन्म पड़ोस के विचार-विनिमय ही में हुआ था।" मैं कुछ न बोला। ऐसे देवता से क्या कहता? घर में आकर अपनी स्त्री से मैंने भगतजी की इतनी प्रशंसा की कि उन्हें अर्शेमुअल्ला तक चढ़ा दिया। मैंने कहा, "देवता हैं देवता, आदमी नहीं हैं। इसको कहते हैं पड़ोस। जान बची लाखों पाये। उस मुहल्ले से तो पीछा छूटा।" मेरी स्त्री ने अपनी कल्पना को नारीत्व के सुनहरे रंग से रँगते हुये कहा, "तब तो स्वर्ग मिल गया। कोई महान् पुरुष लगता है।" मेरी आँखों के आगे भगतजी का घुटा हुआ सिर नाचने लगा। मैंने मन में सोचा की भगतजी की मृत्यु के पश्चात् अगर कोई वैज्ञानिक उनके मगज की परीक्षा करे तो विवेक की उत्पत्ति का कारण तो अवश्य मालूम हो जायेगा। मगर इस भयानक चित्र को मैं अपनी भावुक स्त्री के सामने न रख सका।

शाम को बाजार की तरफ़ जो चलने लगा तो दूसरे पड़ोसी दारोग़ाजी ने रास्ता रोक कर कहा, "आंजनाब आज ही इस मकान में तशरीफ़ लाये हैं न? मुझ खाक़सार को अपना

ख़ादिम समझिये और गाहे-बगाहे शर्फ़ेनियाज़ इनायत कीजिये। मुहल्ला निहायत साफ़ है। बीच में पार्क है। मकानों के चारों तरफ़ म्युनिसपैल्टी की निहायत साफ़ नालियाँ हैं। कहीं गंदगी का इमकाना हो ही नहीं सकता। इसके मांसिवा जितने बाशिंदे हैं वो सब निहायत शरीफ़ और ख़ुश अख़लाक़। ख़ुशबूऐ-इत्तहाद से मुहल्ला मुअत्तर है। और जहाँ तक अमन औ आमान का ताल्लुक़ है जब तक ख़ाकसार आपके ज़ेरे-साया है, आप हमेशा बेफ़िक्री और आराम से रहेंगे। जिन्दगी भर किया ही क्या? जुर्म को पकड़ा और सज़ा देकर इंसाफ़ किया। सुनाऊंगा आपको अपने क़िस्से किसी रोज़। अब तो जनाब से रस्म-ज़ाप्त दिन औ रात का हो गया। हाँ, तो मेरे लायक़ कोई खिदमत तो हुक्म दीजिये।" इन शब्दों को सुनकर मैं शर्म से गड़गया। दारोग़ाजी ने फ़ौरन ख़ासदान पेश किया। एक के बजाय दो बीड़े खा गया। क्या आदमी हैं। वाह! वाह! यह भी एक देवता हैं। मैंने उत्तर में केवल इतना ही कहा, "मैं लफ़्ज़ों में आपकी तारीफ़ नहीं कर सकता। आप ऐसे और भगतजी ऐसे दस-बीस प्राणी और हों तो अपना देश स्वर्ग हो जाये।" "कौन भगतजी?" दारोग़ाजी ने पूँछा। मैंने नम्रता से कहा, "वे ही भगतजी जो मेरे दूसरे पड़ोसी हैं।" दारोग़ाजी सुनकर फ़ौरन बोले "हाँ हाँ! अरे साहब उनके क्या कहने, ऐसे आदमी ढूँढ़ने से नहीं मिलते।"

कृतज्ञता के बोझ से इतना दब गया कि बाजार न जा सका। घर लौट आया। तीन घंटे तक मैंने अपनी स्त्री को मुसलिम सभ्यता, मुसलिम सहृदयता, मुसलिम विशाल हृदयता पर लेक्चर दिया। और जब लालटेन का तेल ख़त्म होने लगा और बत्ती बुझने लगी (एक बोतल मट्टी का तेल हफ़्ते भर कहाँ चलता?) तो मैंने अपनी स्त्री से, जो बेचारी ऊंघ रही

थी, चिल्लाकर कहा, "याद रक्खो सावित्री, दारोग़ाजी भी देवता से कम नहीं हैं।" जँभाई लेते हुये मेरी स्त्री ने कहा, "और क्या।"

दस-पंद्रह रोज़ तक तो मुझको और मेरी स्त्री को ऐसा लगा—मानों हम स्वर्ग में रह रहे हैं। दो-तीन बार दरोग़न आईं और मनकूहा बीबी की हैसियत से उन्होंने अपने शौहर के जज़्बात को उनके ही लफ़्ज़ों में निहायत ख़ूबसूरती से अदा किया। दरोग़न के जाने के पश्चात मेरी स्त्री ने उनकी प्रशंसा में अपने मायके के प्रचीन विशेषणों की बौछार की। दो-तीन बार भगतजी की अर्धांगिनी ने भी हमारे ग़रीबख़ाने को रौनक़ बख़्शी। एक बार तो शायद दरोग़न के बुरके को दरवाज़े की कील से टँगा देखकर भगतजी की पतिव्रता स्त्री चुपके से लौट गईं। मालूम नहीं यह कहाँ तक सच है मगर हमारा नौकर बुधुआ कहता था। ख़ैर, जो हो, इससे क्या मतलब। भगत जी की स्त्री का प्रभाव भी मेरी स्त्री पर काफ़ी पड़ा। घंटों उनकी प्रशंसा हुई।

मगर धीरे-धीरे कल्पना के तिलिस्मी क़िले ग़ायब होने लगे। गरमी का ज़माना था। अभी तक हम लोग नीचे ही सोते थे। जब गर्मी ज्यादा बढ़ने लगी तो छत पर चले गये। पहले दिन जब हम छत पर सोने गये तो चूंकि हम दोनों ने खाना काफ़ी खाया था लेटते ही हम दोनों अपनी-अपनी चारपाई पर सो गये। कोई ग्यारह बजे होंगे जब मेरी आँख खुली। यह मालूम पड़ा कि मैं किसी सिनिमा हाल में बैठा हूँ। ग्रामोफ़ोन रेकार्ड की कर्कश आवाज़ों ने कानों का फाड़ डाला। मेरी स्त्री भी शोर से उठ गईं। भगत जी और दारोग़ा जी के कोठों में आपस में रेकार्डों का मुक़ाबला दो घंटे पहले से हो रहा था। जब मेरी आँख खुली तो दारोग़ा जी "कमली वाले ने" नाम

के रेकार्ड को तेज़ कर्कश सुई से बजा रहे थे। मुहल्ला गूँज उठा। जब मेरी स्त्री की आँख खुली उस समय यह रेकार्ड ख़त्म ही हुआ था। भगत जी ने "जै जगदीश हरे" वाला रेकार्ड बड़ी शान से लगाया। रेकार्ड जैसे ही बजने लगा भगत जी के छोटे-छोटे बच्चे उन्हीं शब्दों को रेकार्ड के साथ ज़ोर-ज़ोर से गाने लगे।

मेरी स्त्री ने कहा, "क्या बजा होगा?"

मैंने कहा, "सवा ग्यारह है।"

हम दोनों मजबूर थे, करते क्या? बस इसके बाद जो रेकार्ड बजने लगा है तो फिर सुबह तीन बजे तक नहीं चुका। "सावन के नज़ारे" से लेकर "मैं बन की चिड़िया बन कर" तक दर्जनों फ़िल्म के रेकार्ड बज गये। बीच-बीच में शुस्ता उर्दू में दारोग़ा जी अपनी दरोग़न से कहते जाते थे, "ख़ुदा के वास्ते सुईयाँ तो तैयार रक्खा करो।" इस पर जब दरोग़न कहती थीं, "सज्जाद को नींद आरही है", तो दारोग़ा ग़ुस्से में चिल्ला कर कहते थे, "सो जाने दो कमबख़्त को। बदशौक़ा है।" छज्जे के दूसरी ओर जिस तरफ़ भगत जी रहते थे, उधर से भी बीच-बीच में कुछ शब्द सुनाई देते थे। एक बच्चे ने भगत जी से विनीत भाव से कहा, "बाबू जी, वो वाला बजाओ जिसमें बजता है 'मेरे लिये जहान में।'" भगत जी ने ग़ुस्से में तिलमिला कर कहा "चुप पगले। ले राधेश्याम की कथा सुन।" भगत जी की स्त्री बीच-बीच में कुछ कहती जाती थीं मगर भगत जी सब को झिड़कते जाते थ।

तीन बजे के सोये-सोये हम लोग आठ बजे उठे। दस बजे मेरा दफ़्तर था। बुधुआ ने एक चाय का प्याला ही दिया। जल्दी-जल्दी दफ़्तर भागा। शाम को चार बजे लौटा। लोगों से पता लगा कि गरमी भर भगत जी और दारोग़ा जी रेकार्डों

का कौंपिटीशन दो-दो तीन-तीन बजे रात तक बिला नाग़ा रोज किया करते हैं। मुहल्ले का कोई आदमी उनको इस आदत से रोक नहीं सकता। मुसीबत में जान फँस गई।

खैर, मैंने और मेरी घर वाली ने यह फैसला कर लिया कि छत पर अब कभी न सोयेंगे। नीचे ही सोयेंगे। बीच में आठ-दस दिन की छुट्टियाँ पड़ गईं। दोपहर में हम लोग कुछ देर के लिये दारोग़ा जी के मकान से मिला हुआ नीचे का जो कमरा था उसमें आराम किया करते थे। दो-तीन दिन के बाद वहाँ का आराम भी हराम हो गया। दारोग़ा और दरोग़न में रोज़ जूतमपैजार हुआ करता था। इस क़दर जोर में तकरार होती थी कि हमारा कमरा गूंज उठता था। तकरार का उदाहरण सुनिये:—

"हरामजादी, इतनी मर्तबे कहा मुलायम गोश्त मँगवा कर। मगर·····"

"तो क्या बाजार मैं जाती हूँ? रफ़ीक़ से कहो। नौकर किस लिए है।"

"क़ुसूर और उस पर बदज़बानी।"

"बस रहने दो। ज्यादा आपे से बाहर न हो। अब्बा के यहाँ चली जाऊँगी।"

"नहीं मानेगी?"

"तो क्या करोगे?"

"कसम ख़ुदा कि ग़ुस्सा बड़ी बुरी चीज है। पुलिस का अफ़सर रह चुका हूँ।"

"अरे जाओ, बातें न बनाओ।"

इसके बाद हर दूसरे रोज़ दरोग़न के क्रंदन की आवाज़ आया करती थी।

६

इस कमरे को छोड़कर हम दोनों दूसरे कमरे में आराम करने लगे। यह कमरा भगत जी के मकान से सटा था।

दूसरे ही दिन उनके मकान से भी इसी प्रकार का शोर सुनाई देने लगा। वे मृदुभाषी भगत जी जिनकी वाणी शहद में डूबी हुई थी, अपनी स्त्री से चिल्ला-चिल्ला कर लड़ रहे थे। उनकी धर्मपत्नी कभी-कभी कुछ कह देती थीं मगर फिर खामोश हो जाती थीं। उदाहरणार्थ······

"इतनी बार मैंने कहा कि भंग का लोटा ठीक समय पर तैयार रहे मगर तुझ ऐसी कुलच्छिनी की समझ में कुछ नहीं आता।"

"हमने तो बाबू जी····"

"चुप रह पापिनी। मुख से एक शब्द न निकालना।"

"मैंने तो महाराज से कह दई थी कि भगत जी की भंग ठीक समै पर तैयार रहे।"

"चुप रह बात न बना। विवाह के पश्चात् प्रत्येक स्त्री को अपने पति की मन लगाकर सेवा करनी चाहिये। समझी, नहीं तो श्राप मिलेगा।"

रोज यही रहता था। मैं और मेरी स्त्री तंग आगये। अब कोई कमरा ही न था जहाँ हम दोनों आराम करें। और जैसे ही मैं मकान से बाहर निकलता कभी भगत जी मिलते थे और कभी दारोगा जी। वही तकल्लुफ़, वही अख़लाक़, "चित्त तो प्रसन्न है?" "कहिये जनाब के मिजाज।" उन दोनों के चेहरों से यही मालूम पड़ता था जैसे कुछ हुआ ही नहीं है। जैसे उन दोनों ने मेरा कुछ बिगाड़ा नहीं।

———

डाक्टर और मरीज़

बीबी और मर्द का रिश्ता दुनिया में बहुत संजीदा और पाकीजा समझा जाता है। मगर मैं समझता हूँ जो रिश्ता डाक्टर और मरीज़ के बीच में होता है उसका दुनिया में जवाब नहीं है। मर्ज़ का होना, मर्ज़ की तशख़ीश होना और फिर उसका इलाज होना—यह क्या आज की बात है ? सदियाँ गुज़र गई हैं मगर वही डाक्टर और वही मरीज़ हर जगह नज़र आते हैं। और डाक्टरी कोई ऐसा वैसा पेशा है ? ख़ुदा की पनाह ! किसमें हिम्मत है जो डाक्टर बन सके ? दुनिया के हर तरह के मर्ज़ को नुस्ख़ से या नश्तर से दूर करना क्या आसान बात है ? बड़ा मुश्किल काम है। लोग समझते नहीं ? ख़ैर, समझ का फेर ही तो है। डाक्टरों का होना तहज़ीब की तरक्क़ी के लिये निहायत ज़रूरी है। मगर मैं तो मरीज़ों की भी तारीफ़ करूँगा। लोगों ने मरीज़ ही होकर डाक्टरों को पैदा किया और उन्हें मजबूर किया कि वे भी अपने समान और डाक्टरों को पैदा करें ? न मरीज़ होते और न डाक्टर होते। हाँ, मगर कोई यह भी तो कह सकता है कि डाक्टर न होते तो मरीज़ कहाँ से आते। मुश्किल प्रश्न है। यह कौन कह सकता है कि पहले अंडा था या मुर्ग़ी। ख़ैर साहब, जो हो, मुझे डाक्टर हमेशा अच्छे लगते थे, लगते हैं और लगते रहेंगे। मगर पहले यह समझ लीजिये कि डाक्टरों की भी दो क़िस्में होती हैं। एक तो होता है शहर का डाक्टर जिसके पास मोटर भी होती है, पेट्रोल भी होता है, और जिसकी फ़ीस हिन्दुस्तान ऐसे मुल्क में सोलह रुपये होती है। मरीज़ अगर एक मर्तबा सोलह रुपये दे दे तो उसे छै महीने तक बीमार होने का मौक़ा ही न मिले। शहर के डाक्टर का

नुस्ख़ा हर जगह नहीं बनता और जहाँ बन गया तो खरे दाम गये और कहीं दुबारा-तिबारा बना तो मरीज़ की हालत सँभलते-सँभलते बिगड़ जाती है। दूसरा होता है किसी क़स्बे का डाक्टर। यह बेचारा किसी क़दर आजिज़ क़िस्म का इंसान होता है। न मोटर है और न पेट्रोल। साइकिल है और सड़क है, पक्की हो या कच्ची। फ़ीस भी बहुत कम। मतब भी बहुत छोटा। शिफ़ा हो या न हो डाक्टर बराबर मर्ज़ से निहत्था लड़ता रहेगा।

मगर, ख़ैर वह कोई क्यों न हो, डाक्टर याने औसत दर्जे का डाक्टर, एक शरीफ़ इंसान होता है जो शरीफ़ों की शरीफ़ बीमारियों को शराफ़त से दूर करता है, चाहे देर में और चाहे जल्दी। पुलिस का अफ़सर जिस तरीक़े से दफ़ायें नहीं भूलता वैसे ही डाक्टर अपने रटे हुये नुस्ख़े नहीं भूलता। समझ में नहीं आता कि डाक्टर मरीज़ को देखते ही इतनी जल्दी अपना नुस्ख़ा कैसे घसीट देता है! और जिस लिपि में डाक्टर लिखता है उसे मौत के फ़िरिश्ते ही पढ़ सकते हैं। मरीज़ तो अच्छा होकर भी नहीं पढ़ सकता। और जिस तरह पुलिस का अफ़सर जुर्म को पहचानता है और उसको परखता है उसी तरह डाक्टर भी मर्ज़ को पहचानता है। यह क्या ज़रूरी है कि पुलिस का दारोग़ा सच्चे जुर्म को पकड़े? उसे तो जुर्म से मतलब है, कोई जुर्म हो। डाक्टर भी मर्ज़ पहचानता है, चाहे सच पहचाने या ग़लत। मरीज़ को मरीज़ ही क़रार देना कोई मामूली बात नहीं है। और यह भी कहना ग़लत न होगा कि जिस तरह किसी थाने का दारोग़ा किसी इक्के वाले या किसी जुआड़ी का चालान कर देता है उसी तरह डाक्टर भी अपनी लम्बी-चौड़ी फ़ीस रखा लेता है। डाक्टर का कहना है कि मर्ज़ ख़ुद यह कहता है कि फ़ीस मिले तो मैं अच्छा होऊँ।

इसमें बेचारे डाक्टर का क्या क़ुसूर? हाँ, एक बात कहना भूल गया। पुलिस जिस मुक़दमे में ख़ुद पैरवी करती है इन्साफ़ का ठेका भी अपने हाथ में ले लेती है। ठीक करती है। इजलास को ज्यादा मुसीबत नहीं उठाना पड़ती। फ़ैसला जल्दी हो जाता है। किसी को छै महीने की क़ैद होती है तो किसी को एक साल की क़ैद। फाँसियाँ भी दो-चार मिल ही जाती हैं। डाक्टर के एख़तियारात भी किसी से कम नहीं होते? अगर वह समझता है कि मरीज़ ६ महीने तक बिस्तर पर पड़ा रहे क्योंकि बीमारी ख़तरनाक है तो उसकी राय को कोई रद्द नहीं कर सकता? डाक्टर भी एक छोटा-मोटा ब्रह्मा है जो अपने मरीज़ों पर पूरा शासन करता है।

मरीज़ को डाक्टर ने जहाँ देखा कि उसकी बाँछें खिल गईं। कुछ डाक्टर तो मरीज़ों के सामने बहुत संजीदा हो जाते हैं और मर्ज़ चाहे निहायत मामूली हो मगर उनकी मुद्रा और भाव-भंगी से यही मालूम पड़ता है कि बीमारी ख़तरनाक है।

मरीज़—दवा चार घंटे के बाद पिऊँ डाक्टर साहब?

डाक्टर साहब—हाँ, हाँ, और क्या?

मरीज़—खाने के लिये साबूदाना, खिचड़ी और दूध ही तो बताया है न आपने?

डाक्टर साहब—ठंडी चीज़ कोई न खाना।

मरीज़—ठंडी चीज़ क्या?

डाक्टर साहब—अरे भाई ठंडी चीज कहीं खा ली तो निमोनिआ हो जायेगा। ज़रा होशयार रहना।

मरीज़—(सहम कर) मगर डाक्टर साहब मैं तो ऐसी कोई चीज खाता ही नहीं और ··

डाक्टर साहब—बीमारी है, उसे बढ़ते देर क्या लगती है।

मरीज़—अब मैं कब आऊँ डाक्टर साहब?

डाक्टर साहब—जब सब ख़ुराकें ख़त्म हो जायें तब आना। परसों आना।

मरीज़ अपने घर की ओर चलता है और उसे ऐसा लगता कि उसे रास्ते ही में निमोनिया हो जायेगा ?

गाहक को देखकर बनिया कहता है "आइये बाबू जी। क्या चाहिये ? बहुत दिनों के बाद आये।" बनिया चाहे गाहक को पहचाने या न पहचाने मगर उसे हर गाहक से यही कहना चाहिये। और जब गाहक दूकान पर आये तो उसका चातुर्य इसी में है कि वो गाहक को घटिया माल दे और कम तौले। मगर डंडी भी मारे तो मुस्कुराते हुये।

एक दिन तबीयत मेरी कुछ अच्छी ख़ासी बिगड़ गई। डाक्टरों के नाम से वाक़िफ़ था। मगर मैंने सोचा काई ऐसे डाक्टर के पास जाऊँ जो बिल्कुल नया हो। टेलीफ़ोन डायरैक्टरी उठा कर नाम देखना शुरू किये। एक नाम बहुत अपरिचित सा लगा। नाम था, डाक्टर शिफ़ा। जब नाम शिफ़ा है तो हाथ में शिफ़ा ज़ुरूर होगी, मैंने यह अपने मन में सोचा। बाद में पता लगा कि इनके मरहूम वालिद का नाम डाक्टर इलाज था और उन्होंने मरने के पेश्तर इनका नाम शिफ़ा रख दिया था। और जब यह छोटे थे तो इनके वालिद डाक्टर इलाज इन्हें मरहम कह कर पुकारा करते थे। और यह भी सुना है कि उस शिफ़ा के दादा का नाम डा० नशतर था और उनके दो कंपाउडर थे जिनका नाम चीर और फाड़ था। ख़ैर दफ़्तर से टैलीफ़ोन किया।

"हलो"

"हलो ! डा० शिफ़ा स्पीकिंग।"

"आदाबर्ज़ डाक्टर, मैं दो-चार रोज़ से बीमार हूँ और आप से मिलना चाहता हूँ।"

"हाँ हाँ ज़रूर। आइये आपका घर है।"

"क्या मैं पूँछ सकता हूँ कि आपकी कंसलटेशन फ़ीस क्या है?"

"कुछ नहीं, महज़ सोलह रुपये।"

"घर पर?"

"जी हाँ, घर पर। मगर आपको पूरा इतमीनान होगा।"

मैंने फ़ोन पर अपनी बीमारी के बारे में थोड़ा-बहुत हाल डा० शिफ़ा को सुनाया। अपना नाम बताया और अपना पता लिख दिया।

"तो डा० साहब, आज आप मुझे देख सकेंगे न?"

"हाँ ज़रूर। और अगर यूरिन, ब्लड, स्टूल, वग़ैरह की जाँच की ज़रूरत होगी तो उनके स्पैशलिस्ट से कह दूँगा या बुलवा लूँगा; वह भी हो जायेगा।"

"उनकी क्या फ़ीस होगी डाक्टर साहब?"

"वही बत्तीस बत्तीस रुपये।"

ज़मीन पैर के नीचे से निकल गई। मैंने उत्तर में कहा, "मैं शाम को आऊँगा तो पहले फ़ोन कर लूँगा।"

"ठीक है। आदाबर्ज़!"

"आदाबर्ज़!"

मैंने मन में सोचा डा० शिफ़ा न डाक्टर हैं न शिफ़ा। इन्हें अपने मरने के बाद अपने लड़के का नाम मर्ज़ रखना चाहिये।

मगर कई डाक्टर बेचारे मरीज़ों से बहुत तपाक से मिलते हैं। मालूम यह पड़ता है गोया मरीज़ इनके अज़ीज़ हैं या अज़ीज़दार। मरीज़ को भी यह वहम या विश्वास हो जाता है कि जहाँ डाक्टर साहब का एक नुस्ख़ा पिया और मर्ज़ गया। ऐसा भी होता है कि जब कई दिन तक मर्ज़ ठीक नहीं होता तो मरीज़ सोचता है इसमें भी डाक्टर की डाक्टरी का कोई

भेद है। डाक्टर जब मुनासिब समझेगा, उसका इलाज हो ही जायेगा। मरीज़ के रोगी मस्तिष्क में कल्पना ज्यादा काम करती है, विचार कम। डाक्टर भी यह सोचता है कि मरीज़ को जब मर्ज़ है तो क्या यह ज़रूरी है कि वह मर्ज़ जल्द ठीक हो जाये! और डाक्टर यह भी सोचता है कि मर्ज़ अगर देर तक मरीज़ के पास रहेगा तो बहुत मुमकिन है वह उस मर्ज़ के बारे में कुछ और बातें ढूँढ़ निकाले जिससे आयंदा के मरीज़ों को फ़ायदा पहुँचे। इसमें स्वार्थ बिलकुल नहीं है, केवल त्याग है।

मगर एक बात है। दुनिया में मर्ज़ हों, मरीज़ हों, कोई डर की बात नहीं। मगर एक मरीज़ के मामले में जहाँ कई डाक्टरों का मशवरा पड़ता है तब डाक्टरों में खूब चलती है। नतीजा यह होता है कि मरीज़ की जान मुसीबत में फँस जाती है। और कहीं किसी हकीम और डाक्टर की चल गई तब तो बेचारा मरीज़ जान से गया। अभी उस दिन हमारे मुहल्ले में एक सज्जन बीमार पड़े। कुछ दिनों हकीम का इलाज रहा। एक दिन उनके ससुराल से एक महाशय आये और एक डाक्टर को ले आये। डाक्टर साहब ने नुस्खा बदल दिया। दो दिन के बाद हकीम साहब जो आये तो उनकी लंबी सफ़ेद दाढ़ी को देख कर घर के लोग डाक्टर साहब को भूल गये। ससुराल वाले महाशय ने डाक्टर साहब का नुस्खा हकीम साहब को दिखाया। हकीम साहब ने चाँदी की कमानी वाली ऐनक जेब से निकाल कर नुस्खे को पढ़ा और कहा, "यह है आजकल के डाक्टरों की बेईमानी। पैसा का पैसा खाते हैं और ग़लत दवा देते हैं। इस मर्ज़ में यह दवा? लाहौल बिलाक़ूवत। सारी हिकमत को झूठा साबित कर दूँ अगर यह नुस्खा सही हो। मेरे उस्ताद हकीम अजमल खाँ दिल्ली वाले ऐसे वैसे

हकीम नहीं थे। मरीज़ को दूर से देख कर बता देते थे किस मर्ज़ में गिरिफ्तार है। खुदा के वास्ते इस नुस्खे को फाड़ कर फेंक दीजिये। लीजिये दूसरा नुस्खा लिख कर देता हूँ।" जो सज्जन बीमार थे उन्हें ऐसा मालूम पड़ा मानो डाक्टर साहब एक पिशाच का रूप थे और हकीम साहब का एक-एक शब्द अटल सत्य है। गरज यह है, कि डाक्टर साहब का नुस्खा रद्द किया गया और हकीम साहब का नुस्खा माना गया।

दो-चार दिन के बाद एक दिन डाक्टर साहब आये। थे तो क्लीनशेवन डाक्टर मगर चेहरे पर तेज इतना था कि घर के लोग हकीम साहब की नूरानी दाढ़ी भूल गये। हकीम साहब का नाम सुनते ही आग-बबूला हो गये। बोले, "हकीम हुये, वैद्य हुये, ये बेचारे क्या जाने? ये तो मरीज़ को धोखा दिया करते हैं। वह नुस्खा जो मैंने दिया था मेरे उस्ताद ने, जो वियना के एक मशहूर डाक्टर हैं, मुझे यूरोप में दिया था। हज़ारों मरीज़ इस नुस्खे से जर्मनी और रूस में फ़ायदा उठा चुके हैं। सिवाय तीन डाक्टरों के हिन्दुस्तान में कोई डाक्टर इस नुस्खे को नहीं जानता। आप इसका इस्तेमाल करते रहिये। बहुत जल्द ठीक हो जाइयेगा।" डाक्टर साहब के शब्दों को सुन कर घर भर हकीम साहब को मन ही मन कोसने लगा।

एक महीने तक तो यही होता रहा कि हकीम साहब अपना नुस्खा लिख कर चले जाते थे और डाक्टर साहब अपना। गोया मरीज़ जो था वह मैदानेजंग था जिस पर हकीम साहब और डाक्टर साहब अपनी शख्सी लड़ाई लड़ रहे थे। जब उन सज्जन की हालत बहुत बिगड़ गई तब यह तय हुआ कि उन्हें अस्पताल भेज दिया जाये। ख़ैर यही हुआ और उन बेचारे की जान बची। मगर जब वह अच्छे होकर घर लौट आये तो हकीम साहब एक दिन आकर बोले, "आख़िर हुआ

आपको मेरी दवा से फ़ायदा !" और जब डाक्टर साहब आये तो बोले, "अच्छा किया आप ने अस्पताल में आराम कर लिया। वरना अच्छे तो आप यहीं हो चले थे।"

न मालूम क्या बात है, हर शरीफ़ आदमी यह समझता है कि उसे बीमार दो-चार मर्तबे ज़रूर पड़ना चाहिये। हर शरीफ़ डाक्टर भी यह चाहता है कि जितने मरीज बढ़ें उतना ही उसे खिदमत करने का मौक़ा मिले। कभी आपने दो डाक्टरों को बात करते सुना है ? एक कहता है, "क्या बतायें, आजकल सीज़न डल है। अभी दस-पाँच मलेरिया के "केसज़" आ गये थे; उसके बाद मामला ठप।" दूसरा कहता है, "यहाँ भी यही हाल है। हमारी तरफ़ अव्वल तो लोग बीमार पड़ते ही नहीं ? और फिर जो केसेज़ मिलते हैं तो बहुत छोटे। वही बुख़ार और सर्दी के। भला बताओ इनसे अपना क्या भला होता है।"

असलियत यह है कि जिस तरीक़े से मरीज़ बड़ा डाक्टर चाहता है उस तरह डाक्टर साहब बड़ा मरीज़ चाहता है। इस कशमकश में मर्ज़ भी, खूब फलता-फूलता है। मरीज़ कहता है "मर्ज़ मुर्दाबाद।" डाक्टर कहता है "मर्ज़ जिंदाबाद"। मालूम नहीं इनमें कौन सही है !

तकल्लुफ़ के दो-चार नुस्ख़े

"ऐ ज़ौक़ तकल्लुफ़ में है तकलीफ़ सरासर।" ज़ौक़ के इस कथन के कई मायने निकल सकते हैं। तकल्लुफ़ में तकलीफ़ भी है, और आराम भी है। तकल्लुफ़ में आडम्बरपूर्ण शिष्टाचार का समावेश अवश्य होता है। बहुत ज्यादा तकल्लुफ़ करने में शायद थोड़ी बहुत तकलीफ़ होती है। मगर जो तकल्लुफ़

बिल्कुल नहीं करता उसे भी बहुत तकलीफ़ होती है। तकल्लुफ़ परंपरागत शिष्टता है। तकल्लुफ़ करना कोई आसान बात नहीं है। जौक़ के जवाब में किसी तकल्लुफ़-परस्त प्राणी ने कहा है, "अहमक हैं ज़माने में जो तकल्लुफ़ नहीं करते।" बहुत खूब कहा है। क्योंकि जो मनुष्य तकल्लुफ़ जानता ही नहीं वह सचमुच में गँवार है। तकल्लुफ़ व्यक्तिगत सभ्यता की तराज़ू है। इंसानियत इसी तराज़ू पर तौली जाती है। बिना तकल्लुफ़ की बातचीत ऐसी है जैसे बिना बघारी दाल। जो तकल्लुफ़ से दूर भागते हैं वह सभ्य संसार से दूर भागते हैं। तकल्लुफ़ और शिष्टाचार के दस-बीस स्कूल खुलवाकर सरकार चाहे तो बहुतों को आदमी बना दे। जो तकल्लुफ़ नहीं जानता वह काँदीहौज के घोड़े से कम अक्खड़ नहीं होता। फ़क़त पैर पटकता है और हिनहिनाता है।

जो तकल्लुफ़ के सिद्धान्तों को जानते हैं वे जीवन के हर क़दम पर तकल्लुफ़ बरतते हैं। फ़र्ज़ कीजिये कि किसी शरीफ़ आदमी ने आपको चाय पर बुलाया और पाँच बजे का वक़्त दिया। प्रश्न यह उठता है कि क्या यह ज़रूरी है कि आप वहाँ ठीक पाँच बजे पहुँचें? हरगिज़ नहीं। अगर आप शाइस्ता हैं, शरीफ़ हैं और अगर आपकी नसों में आपके पुरखों का खून दौड़ता है, तो आपका फ़र्ज़ यही है कि आप पाँच के बाद ही पहुँचें। इसमें दो फ़ायदे हैं। एक तो यह कि इन्तज़ार के चंद मिनिट आपकी क़द्र और क़ीमत को बढ़ा देंगे। आपके व्यक्तित्व का मूल्य बढ़ जायेगा। दूसरा फ़ायदा उसमें यह है कि आप अपनी मर्यादा भी रख सकेंगे। कहने का मतलब है कि अगर आप वहाँ ठीक पाँच बजे पहुँच जायेंगे तो आप इस बात का प्रमाण देंगे कि आपको चाय की लालच है। इसमें आपकी बुलहवसी का सुबूत होगा। देर में पहुँचेंगे तो चाय के बारे में

अपने तटस्थ भाव को प्रगट करके आप अपनी मर्यादा को ऊँचा उठा सकेंगे। इसीलिये बड़े आदमी हर जगह हमेशा देर में पहुँचते हैं।

मगर यह कुछ नहीं। यह तो पहला अध्याय है। जब चाय सामने आये तब भी एक प्रकार के वैराग्य का अभ्यास करना चाहिये। ऐसे अवसर पर चतुरता से तटस्थ होना कभी हानि-कारक नहीं होता। खाने की चीज़ अगर पेश की जायें तो सभ्यता इसी में है कि आप उन्हें बहुत अनुरोध के बाद खायें। यह याद रहे कि तीन बार नाहीं करना वह अटल सिद्धान्त है जिसकी बुनियाद पर सारे शिष्टाचार की अट्टालिका खड़ी है। तीन बार किसी खाने की चीज़ को मना करने के बाद ही खाना हर शरीफ़ आदमी का काम है। नमकीन हो तो उसके दो-एक दाने ही उठा कर खाना चाहिये। ज़्यादा खाने में अपनी मान-हानि है। जलेबी अगर पेश की जाये तो उसे छील कर खाने का प्रयत्न करना परमावश्यक है। इससे यह पता चलेगा कि आपको नवाबों और नवाबजादों की सुहबत उठाने का मौक़ा मिल चुका है। संतरे वग़ैरह का तो महज़ अर्क़ ही चूसना चाहिये, बाक़ी फेंक देना चाहिये। मगर जो कुछ आप खायें वह बहुत ही थोड़ा-थोड़ा। इसके भी फ़ायदे हैं। एक तो यह कि चीज़ हज़्म आसानी से होती है और दूसरे यह कि आप अपनी शाइस्तगी का भी पूरा सुबूत देते हैं। चाय हो तो आधे-या तीन चौथाई प्याले से ज़्यादा कभी न पीजिये। अगर कोई ज़िद करे तो कहिये, "मैं माफ़ी चाहता हूँ, चाय से मुझे नुक़सान होता है। मेरा आदी नहीं है इस गर्म चीज़ का?" मगर जो कुछ कहिये मुस्कुरा कर कहिये और निहायत आहिस्ते।

जिस वक़्त बातचीत शुरू हो जाये इसका ख़याल रखिये

कि गुफ़्तगू में भी तकल्लुफ़ की ज़रूरत है। शब्दों को नाप-तौल कर रखिये। उच्चारण में कोरा पांडित्य न हो। ज़बान की मिठास का भी आनन्द हो। ज़्यादा कभी न बोलिये। लोगों को आपके शब्दों का प्रति क्षण इंतज़ार रहे। जब लोग कहें, "आप ख़ामोश कैसे हैं? आप भी कुछ फ़रमाइये," तब आहिस्ता-आहिस्ता तकल्लुफ़ से कुछ कहिये। भद्दे कर्ण-कटु शब्दों को सुनकर आपके चेहरे पर शर्म झलके, आपकी आँखें नीची हो जायें। ऐसा दिखाइये गोया आप उन शब्दों से मायूस ही नहीं हैं, उन्हें जानते ही नहीं हैं। फिर आपका यह फ़र्ज़ है कि उनके मुक़ाबले में आप अपनी ललित शब्दावली पेश करें जिसे सुनकर सब झेंप जायें। एक बात और याद रखिये। अक्सर दावतों में मेहमान खाने की चीज़ों की तारीफ़ करना शुरू कर देते हैं। विशेषणों की बौछार कर देते हैं। खाते समय ऐसा करना बड़ी मूर्खता है। जब आप यह कहते हैं कि "आपके दहीबड़े बहुत ही मज़ेदार हैं। अहा-हा, कचौरियों के क्या कहने! ख़स्ता और निहायत लज़ीज़!" तो जो आदमी आपको अपने यहाँ दावत पर बुलाता है वह यह समझता है कि आप दहीबड़े और कचौरियाँ और खाना चाहते हैं। नतीजा यह होता है कि वह इन्हें मँगवा-मँगवा कर आपके सामने रखता जाता है और आप अपने विशेषणों की मर्यादा रखने के लिए उन्हें भी खा जाते हैं। चाहिये यह कि खाते समय मेहमान भोजन के पदार्थों पर कोई टिप्पणी न करे। जब दावत समाप्त हो जाये तब हाथ धोने के बाद दो-चार प्रशंसासूचक शब्द कह दे। उदाहरणार्थ, "बड़ा लुत्फ़ आया आपकी सुहबत में। दावत निहायत ख़ूब थी। शुक्रिया आपके ख़ुलूस का। सब चीज़ें निहायत लज़ीज़ थीं और लाजवाब थीं।" बस इतना काफ़ी है। इतने शब्दों में आप सब कुछ कह गये।

मगर जो लोग तकल्लुफ़ के आदी नहीं हैं वे अक्सर दावतों में बड़ी भद्दी ग़लतियाँ कर बैठते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है, रेल के सफ़र के बाद जब कोई किसी के मकान पर भूखा पहुँचता है तो सारा तकल्लुफ़ भूल जाता है। मेरे एक मित्र ने जिन्हें तकल्लुफ़ का काफ़ी अभ्यास है, एक मर्तबा ऐसी ही ग़लती की! लखनऊ जाने का इत्तफ़ाक़ हुआ। लखनऊ में उनके एक दोस्त थे जो बहुत बड़े नवाब थे। रेल से उतर कर सीधे उनके घर पर पहुँचे। कुछ देर के बाद खाना आया। नवाब साहब और वह खाना खाने बैठे। अभी एक नेवाला तोड़ा ही था कि नवाब साहब ने निहायत दिलचस्प गुफ़्तगू शुरू कर दी। मेरे मित्र बीच-बीच में "बजा है," "जी", "इसमें क्या शक़ है", "जी फ़रमाइये" वग़ैरह कहते जाते थे। नवाब साहब थोड़ा खाते थे। मजबूरन मेरे दोस्त भी हूकार भरते-भरते एक ही रोटी खा पाये। नवाब साहब बोले"...... अजी जनाब यहाँ की नाशिस्तों का हाल न पूँछिये। जिस ज़माने में यहाँ चुलबुले वाली मलका आई और कलकत्ते वाली गौहर, न पूँछिये इस ग़रीबख़ाने में क्या-क्या जलसे हुये। कई दिन और कई शब मुतवातिर जलसे हुये हैं। मजमा था कि क़मायत। तिल रखने की जगह नहीं थी। महफ़िल क्या होती थी, बाग़ सज जाता था। अहा हा, क्या-क्या गाने-बजाने हुये हैं!" इस तरह नवाब साहब दिलचस्प अफ़साने सुनाते रहे। जब मेरे मित्र अपनी भूख को ज़ब्त न कर सके तो लालटेन की रोशनी को नवाब साहब की तरफ़ करके और ख़ुद अँधेरे में होकर लगे भर पेट खाने। पाँच-छै रोटियाँ खाने के बाद कहते जाते थे "फिर क्या हुआ नवाब साहब? हाँ, तो क्या जल्से यहाँ इसी कमरे में हुआ करते थे।...... आप कुछ खा नहीं रहे हैं नवाब साहब।" नवाब

साहब बेचारे भोले आदमी थे। उन्हें मेरे दोस्त की चाल समझ में न आई। और न बेचारे यह जानते थे कि मेरे दोस्त पंजाब की तरफ़ के हैं। नवाब साहब बोले, "मैं काफ़ी खा चुका हूँ। इससे ज़्यादा गिज़ा तो मैं शब को कभी खाता ही नहीं। मेदा बर्दाश्त नहीं कर पाता।" मैंने अपने मित्र से कहा कि उन्हें चाहिये था कि अपने क्षुधा-पीड़ित पेट की रोक-थाम करते और खाना खाते वक़्त इतने बे-तकल्लुफ़ न होते। न मालूम नवाब साहब के नाज़ुक दिल पर इसका क्या असर पड़ा हो। तकल्लुफ़ करना है मुश्किल चीज़।

मगर तकल्लुफ़ के मायने यह नहीं है कि सिर्फ़ खाने में बरती जाये। वह तो जीवन का अनिवार्य अंग है। मनुष्य के आचार-विचार उससे चमक जाते हैं। हर चीज़ को तकल्लुफ़ परिष्कृत कर देती है। परिमार्जित और टकसाली भाषा वही बोल सकता है जो तकल्लुफ़ात जानता है। वरना बेतकल्लुफ़ पंजाबी भाई उर्दू क्या बोलते हैं, उसे मुर्ग़ी बनाते हैं—

"कहो उर्दू को चित कर दूँ कहो उर्दू को पट कर दूँ।
ज़बाँदाँ और होंगे हम तो पंजाबी रिसाले हैं॥"

परिमार्जित भाषा के अलावा इंसान के उठने-बैठने में तकल्लुफ़ का स्वाद होना चाहिये। ख़ासदान या पान की तश्तरी को सामने पेश करना और इस बात का इसरार करना कि आपके मेहमान या मित्र एक ही बार में कई बीड़े खा जायें, शराफ़त की निशानी है। कुछ लोग पानी में भीगे हुये कड़वे पानों को पनडब्बे से निकाल अपने हाथ से एक-एक करके अपने मेहमानों या मित्रों को देते हैं। इसको मैं बड़ी भद्दी बात समझता हूँ। इसके मायने तो यह है कि कोई अगर दुबारा पान खाना चाहे तो किसी चौराहे पर जाये और पन-वाड़ी से मोल लेकर खाये। जो महाशय इस तरीक़े से पान

निकाल कर बाँटते हैं प्रायः वे लोग होते हैं जिनके यहाँ रोज़ बाज़ार से गिन कर पान मँगवाये जाते हैं। या किसी दावत में जब कोई परोसने वाला चिल्लाता हुआ हमारी पत्तल के पास आकर झुकता है और ठंडी कचौरी हाथ में निकाल कर कहता है, "एक और दूँ ?" "एक और दूँ ?" तो इसके मतलब यह हुये कि जितनी कचौरियाँ मैंने अब तक खाईं उन सब का हिसाब परोसने वाले के पास है और अब वह मेरी क्षुधा पर व्यंग-पूर्ण टिप्पणी करते हुये पूछता है कि क्या मुझे एक कचौरी की और आवश्यकता है। पाजी कहीं का! कहना चाहिये था "खुदा के वास्ते एक कचौरी और खाइये। आपको मेरी क़सम। कंट्रोल रेट के मैदे की क़सम!" मगर बजाय यह कहने के कहता है, "एक और दूँ ?" यह नहीं जानता कि यदि मैं एक पूरी या कचौरी चाहता भी हूँ तो अपनी ज़बान से कैसे कह दूँ ? उसे तो पत्तल में बग़ैर पूछे कचौरी डाल देना चाहिये जिसमें मुझे मौक़ा मिले कि मैं कहूँ, "अरे-अरे यह क्या ? मैं तो खा चुका। अब तो एक नेवाला भी न खाया जायेगा। ख़ुदा के वास्ते अब कचौरी दी सो दी, अब न देना।" मगर चतुर परोसने वाला वही है जो इन शब्दों को सुनकर हताश न हो। उसे प्रति बार यही प्रयत्न करना चाहिये कि वह मुझसे बिना पूछे कचौरी डाले। मुझे शिकायत करने का मौक़ा मिलेगा और अच्छी ख़ासी तकल्लुफ़ भी बरत लूँगा।

किसी क़िस्म का सफ़र हो, ताँगे से, इक्के से, रिक्शा से, बैलगाड़ी से, मोटर से या रेल से, ऐसे मौक़े पर तकल्लुफ़ का अभ्यास करने में अच्छा आनंद आता है। अगर आप और आपके दो मित्र ताँगे पर सवार होकर कहीं जा रहे हैं तो आपका फ़र्ज़ यही है कि जब तक आपके मित्र आराम से न बैठ जाँये तब तक आप ज़मीन ही पर खड़े रहें। आपके

मित्रों का भी यही कर्त्तव्य आपके प्रति है। उनका भी धर्म है कि वे भी इस प्रकार का सभ्य बर्त्ताव करें। ऐसा करने से तकल्लुफ़ के सिद्धान्तों की मर्यादा सदैव सुरक्षित रहती है। कोई परवाह नहीं अगर बीच सड़क में ताँगा खड़ा है और चारों तरफ़ आदमियों का ताँता है। आपके लिये यही उचित कि आप अपने दोनों मित्रों से इसरार करें कि पहले वे ताँगे पर पधारें। मुमकिन है कि आपके मित्र भी इसी प्रकार का इसरार आपसे करें। नतीजा यह होगा कि आप लोगों के मुख से बस यही शब्द निकलेंगे "नहीं, नहीं पहले आप, पहले आप आइये, तशरीफ़ लाइये।" इस तकल्लुफ़ के दोस्ताना झगड़े में यह भी होगा कि सामने से दो-चार मोटरें हार्न बजाती हुई, पचास साठ मील की रफ़्तार पर आती दिखाई देंगी। इक्के और ताँगे "एक तरफ़ हटो" चिल्लाते हुए पास से निकल जायेंगे। आपका ताँगा वाला घोड़े की रास पकड़े आपकी बहस को झुँझलाहट से सुनेगा। घोड़ा बिचकेगा और पिछले पैरों से ताँगे पर प्रहार भी करेगा। मुमकिन है बग़ैर ब्रेक वाली साइकिलों पर चढ़े हुये दो-चार महानुभाव आपसे आकर टकरा भी जायें। कुछ हो जाये। मगर आप ऐसे शरीफ़ों का यही फ़र्ज़ है कि आप अपने को अटल और दृढ़ रक्खें। तकल्लुफ़ का पालन करने में चाहे आपको ठेस लग जाये, आपका अँगूठा छिल जाये, ताँगे के पहियों के कीचड़ से आपके वस्त्र गंदे हो जायें, आप दबते-दबते बच जायें, मैं कहता हूँ, कुछ भी हो जाये मगर आप ताँगे पर जभी बैठें जब ट्रैफ़िक के सारे क़ायदों का उल्लंघन करके, हार-पछता कर आपके मित्र ताँगे पर सवार हो जायें। आपको ताँगे के आगे ही बैठना चाहिये चाहे आपको कितना ही कष्ट क्यों न हो। और जब ताँगा मंज़िले-मक़सूद पर रुके तो आपको

ताँगे से कूद कर अपने मित्रों का स्वागत करना चाहिये। कूदने में यदि आपकी टाँग भी टूट जाये तो वह फिर जुड़ सकती है। मगर उतर कर मित्रों का मुस्कुराते हुये स्वागत करना आपका पहला धर्म है।

यदि रेल का सफ़र हो तब भी तकल्लुफ़ के सिद्धांत का पालन करना आवश्यक है। क़िस्सा मशहूर है कि दो मुसाफ़िर गाड़ी छूटने तक यही कहते रहे "पहले आप डब्बे के अंदर तशरीफ़ ले चलिये।" असबाब भीतर था और ये दोनों बाहर थे नतीजा यह हुआ कि गाड़ी छूट गई, सामान चला गया और वे प्लेटफ़ार्म पर तकल्लुफ़ का युद्ध लड़ते रहे। तकल्लुफ़ न जानने वाले गँवार इस घटना पर हँसते हैं और व्यंग की बौछार करते हैं। यह उनकी भूल है। उन दो मुसाफ़िरों ने गाड़ी में न बैठकर इस बात का प्रमाण दिया कि रेल रोज़ चलती है और प्रति दिन लोग आते जाते हैं। सफ़र कभी भी हो सकता है। आज नहीं तो कल सही। मगर सभ्यता के सिद्धांतों का पालन कौन करता है? सैकड़ों जलील रोज़ सफ़र करते हैं। इसमें क्या ख़ूबी है? रेल रुके या चली जाये मगर तकल्लुफ़ को हाथ से न जाने देना चाहिये। यही इंसान और हैवान में फ़र्क़ है।

इक्के की सवारी

सवारियों में इक्के की जो इज्ज़त मेरे दिमाग़ में है उसका मुक़ाबला मोटर तक नहीं कर सकती। न मालूम मोटर को लोग क्यों सबसे अच्छी सवारी समझते हैं। जो सवारी निहायत ज़लील पैट्रोल ऐसे तेल की मुहताज हो उसको सवारी ही कौन कहता है। ख़ुदा ग़ारत करे ऐसी सवारी को जिसकी

जिन्दगी का नाजायज़ ताल्लुक़ एक ऐसे तेल से हो जिसे हमारी शरीफ़ नाक कभी बर्दाश्त नहीं कर सकती। इसके अलावा यह कि जिस सड़क से कोई कार गुज़रेगी, वहाँ के हर शरीफ़ आदमी को दस मिनट तक गर्द खाना पड़ेगी। इसी गर्द से ऐसी-ऐसी बीमारियाँ फैलती हैं जिनका इलाज लखनऊ के मेडिकल कालेज तक में नहीं होता। सैकड़ों मर्तबा यह होता है कि सड़क के दोनों तरफ़ चलने वाले राहगीरों के चेहरों पर धूल की तह जम जाती है। मुझे तो धूल उड़ाती हुई तेज़ रफ़्तार वाली कार देख कर इतना गुस्सा आता है कि मेरा बस चले तो मोटर का पैदा होना ही किसी तरकीब से बन्द कर दूँ। मैं यह कहता हूँ कि पैट्रोल और धूल को छोड़ कर मोटर में होता क्या है? उसमें बैठ कर कहीं जाइये तो रास्ते की सब चीज़ें—आदमी, दूकानें, औरतें—उड़ती नज़र आती हैं। ढङ्ग से दिखाई तक नहीं देतीं। इस सवारी में सबसे बड़ा नुक्स यही है कि इस पर क़ायदे से सवारी नहीं की जा सकती। "लारी" और "बस" इसके आधुनिक पिशाच रूप हैं। वह सवारियाँ जिनमें बीस की जगह चालीस मुसाफ़िर बैठें, जिनकी रफ़्तार सात या आठ मील फ़ी घंटा हो, जिनके टायर रास्ते में बिगड़ जायँ और जिनके छूटने और पहुँचने का वक़्त मुक़र्रर न हो उन्हें लारी या बस कहते हैं।

मोटर पर बैठने वाले तो इक्के को बुरा समझते ही हैं, मगर ताँगे पर बैठने वालों को क्या पड़ी है कि इक्के से घृणा करें? बेचारे इक्के ने उनका क्या बिगाड़ा है। ताँगा मोटर से बेहतर ज़रूर होता है मगर इक्के का मुक़ाबला नहीं कर सकता। अव्वल तो ताँगे वालों का दिमाग़ ख़राब होता है। "क्यों भाई बाज़ार तक चलोगे?" "जी हाँ, आइये।" मगर जहाँ आपने पूछा "क्या लोगे?" तो फ़ौरन जवाब मिलेगा

"वही बारह आने।" जिस लापरवाही से ताँगे वाला यह उत्तर देता है उससे यही पता चलता है कि वह इन्साफ़ का आदी है और कभी झूठ नहीं बोलता। जो कुछ कह रहा है उसे आप वाजिब समझिये। अगर इस पर वाद-विवाद शुरू हो गया तो उसका कोई अन्त नहीं। बातचीत और व्यंगात्मक तर्क से आप उससे नहीं जीत सकते। फ़ौरन कहेगा, "अजी हुजूर, जमाना तो देखिये। ढाई रुपये रोज तो घोड़ा खा जाता है। जरा सी मरम्मत में दो-तीन रुपये खर्च हो जाते हैं। फिर मालिक को देना पड़ता है। बाल-बच्चों को कैसे पालें?.... मैंने ज्यादा क्या माँगा? अच्छा दस ही आने दीजिये।" और कहीं आपने घंटे के हिसाब से ठीक किया तो फिर लुत्फ़ देखिये। ताँगे वाला का घोड़ा भी ऐसा सधा-बधा होता है कि घंटे के हिसाब से जाने वाली सवारी को निहायत तकल्लुफ़ से धीरे-धीरे चल कर पहुँचाता है। घंटे के दो घंटे हो जाना तो मामूली बात है। पाखंडी घोड़ा इतना धीरे-धीरे चलता है मानो कई टन का बोझ लिये जा रहा है। बिल्कुल बेजान बन जाता है मानो महीनों से चल रहा है। और कहीं थोड़ी दूर जाना हो तो ताँगे वाला अपने ताँगे को इतनी तेजी से भगाता है कि अतड़ियाँ हिल जाती हैं। बग़ैर किराया ठीक किये तो किसी ताँगे पर बैठना ही नहीं चाहिये। कोई ताँगे वाला ऐसा नहीं है जो सवारी को पहुँचा कर उससे पैसों के लिये झगड़ा न करे। "लीजिये साहब, तो यह भी रख लीजिये। यह भी न दीजिये। हम तो ग़रीब मजदूर हैं" वग़ैरह-वग़ैरह कह कर ऐसा याचक-रूप धारण कर लेता है कि आपको और पैसे देने ही पड़ते हैं। लानत है ऐसी सवारी पर।

कलकत्ते की दो घोड़े वाली फ़िटन वाले भी बड़ी बेहया और बेईमान होते हैं। उनकी घड़ी के काँटे पन्द्रह-बीस मिनट

आगे ही रहते हैं। छोटे रास्ते को बड़ा बनाना तो उनके बाँये हाथ का खेल है। नये मुसाफ़िर ख़ास तौर से परदेसी, को तो ऐसा उल्लू बनाते हैं कि तबीयत झक हो जाती है। ख़ैरियत यह है हिन्दोस्तान के सब शहरों में इसका रिवाज नहीं है। और जगहों में मक्खीमार या रईस ही इस पर बैठते हैं। मैं यह कहता हूँ कि किसी गाड़ी में दो-दो घोड़ों की क्या ज़रूरत? एक घोड़ा क्या कम घास खाता है? फिर वे दो घोड़े जो गिरते-पड़ते चलें और जिनकी टाप में उदासीनता का भाव हो और यह भी कि जो ऐसी गाड़ी में जुतें जिसकी "खड़र-खड़र" से कान के पर्दे फूट जायें, भला किस काम के? अच्छा यह होता कि इनको किसी भैंसागाड़ी में बारी-बारी से जोता जाता। इन्हीं दो घोड़ों की वजह से फ़िटन को हम अपने देश की सबसे सुस्त सवारी समझते हैं। भला ऐसी सवारी से क्या फ़ायदा जो बाबा आदम के ज़माने की हो और जिसमें कोई आधुनिकता का भाव ही न हो?

रिक्शा फ़ैशन की सवारी है मगर है नंगा। दुनिया आपको देख सकती है और बता सकती है कि आपकी जेब में चार ही आने पैसे हैं। चार आने से ज्यादा पैसे आपकी जेब में होते तो आप ताँगे पर न बैठते। पहाड़ का रिक्शा जिसमें आदमी जुतते हैं और जो महँगा भी होता है एक अजीब चीज़ है। वह असल में मरीज़ों ही के लिये बना था। किसी लंगड़े-लूले को उसमें बिठा दीजिये, देखिये कैसा सजता है। भला-चंगा आदमी जब उसमें बैठता है तो मरीज़ ही मालूम पड़ता है। पसीने में शराबोर हाँपते हुए कुली इसको चलाते हैं और मोटे से मोटे वज़नदार आदमी का बोझ उठाते हैं। शहर में तो ख़ैर साइकिल रिक्शा ही चलते हैं। इस क़िस्म के रिक्शा की हैसियत ही क्या? साइकिल के पहियों पर चलने वाला रिक्शा

किस बूते पर अपनी इज्ज़त चाहता है ? जिसका जी चाहे वह इस पर बैठ सकता है। आपका धोबी भी उस पर उसी शान से बैठता जिस शान से आपका नाई। वह सवारी ही क्या जिसमें घोड़ा ऐसा शानदार जानवर न जुता हो ? हर सवारी का अपना निराला तेवर होता है। रिक्शा इस चीज़ से महरूम है। इसीलिये झूठी इज्ज़त बनाने के लिये मालिक लोग उसकी सीट के पीछे अपना नाम और पता खुदवा देते हैं। दो पहियों पर खुदी का जनाज़ा यों ही निकाला जाता है।

सायकिल बेचारी दफ़्तरों के बाबुओं की सवारी है। सस्ती भी है, तेज़ भी चलती है मगर है ग़रीब। जितनी बेक़द्री साइकिल की होती है उतनी और किसी चीज़ की नहीं। सब को खुश करती है मगर दो आने का पंचर बनवाने में हमारी-आपकी नानी मर जाती है। बेक़द्री की हद यह है कि सैकड़ों साइकिल चलाने वाले जो अपनी साइकिलों को अपना समझते हैं उसके जीवन की रक्षा के लिए दो-तीन रुपया वाला लाइसैंस लेने से इन्कार करते हैं। हज़ारों आदमी बग़ैर साइकिल लैंप के अँधेरी रातों में घूमते हैं। मैं पूछता हूँ कि क्या साइकिल बेचारी एक मामूली लैंप के लायक़ नहीं ? साइकिल का क़र्का और "लोको वर्क-शाप" के आदमियों ने इतना ज़लील कर दिया है कि इसे शरीफ़ सवारी कहना बेकार है। जब उसके टायर घिस जाते हैं, हैंडल पर ज़ंग लग जाता है, चेन कमज़ोर हो जाती है, पैडिल टूट जाते हैं और सीट का चमड़ा उधड़ जाता है तब वह इतनी बदसूरत लगती है कि जी चाहता है कि मिलिटरी वालों को बेच दी जाये।

मोटर-साइकिल उर्फ़ फटफटिया निहायत बदतमीज़ सवारी है। इतना शोर मचाती है कि कान बन्द करने पड़ते हैं। शराफ़त से, बग़ैर शोर मचाये, चलना तो यह जानती ही

नहीं। इसकी तेज़ रफ़्तार में ख़तरे ही का भाव होता है। देखने वालों को बुरा मालूम पड़ता है। और इस पर जो बैठता है वह गनबोट जैक की बदरूह मालूम पड़ता है। आराम तो इसमें ज़रा भी नहीं होता। बैठने वाला मशीन का पुतला लगता है जो पीठ सीधी किये और गर्दन उठाये न मालूम किस उधेड़-बुन में चला जाता है। और इसकी पिछली सीट पर जो साथी बैठता है वह दुनिया का सबसे बड़ा मसख़रा है। ख़ुद न तो उसे चलाता है और न ख़ुद उस पर सही तरीक़े से सवार होता है मगर दिखाता यह है कि गोया वह उसकी ख़ुद की सवारी है। अगर उसकी जगह एक अटैची केस खड़ा करके रख दिया जाय तो वह भी उसी के समान अचल और निर्जीव लगेगा। उसके लटकते हुए पैर जिन्हें बराबर वाजबी तौर से हिलते रहना चाहिये इस क़दर बेजान और सख़्त हो जाते हैं कि वे उसके अपने पैर लगते ही नहीं। नाज़ुक आदमी इस पर बैठे तो दूसरे दिन इख़्तिलाजे-क़ल्ब शुरू हो जाये।

सवारी तो असल में है इक्का। दुनिया में इस सवारी का जवाब नहीं। मगर इक्का हो असली और हलाली जिसमें सभ्यता की बू-बास हो। पटने वाला इक्का न हो जिसकी छत को निकाल कर पटना वालों ने इतना नंगा बना दिया कि ज़नानी टमटम बन गया। बग़ैर छत के इक्का कैसा? असली नस्ल वाला वज़ादार, तहज़ीबयाफ़्ता इक्का हर जगह नहीं मिलता। इलाहाबाद के इक्कों में ग्रामीणता का भाव होता है। वहाँ के इक्के वाले ज़रा भी तकल्लुफ़ नहीं बरतते। बात यह है कि वे इक्के ऐसी नम्बर वन सवारी की मर्यादा को नहीं समझते। फ़क़त मज़दूरी करते हैं। और शहरों के इक्कों का ज़िक्र करना भी फ़िज़ूल है। इक्का जिसे कहते हैं वह है लखनऊ का।

किस तपाक से इक्के वाला अपनी सवारियों से बात-चीत करता है! वह उन्हें अपना समझता है। उसकी व्यक्तिगत सहानुभूति मुसाफ़िरों को देखकर एक प्रकार के प्रेम में परिणित हो जाती है। न मालूम क्या बात है कि हर इक्के वाला बिला वजह उनको अपने ही लड़के बच्चे या चचा-भतीजा समझता है। जिसको आता देखता है उसीसे इस तपाक से बातचीत करता है गोया वह उसकी मनकूहा बीबी की ससुराल का कोई ख़ास आदमी है। देखते ही पहचान जाता है और जिस तरीक़े से कोई साला अपने बहनोई से बात करे या कोई बेहया मेकरूज़ इन्सान तेवर से किसी बनिये से बात करे, कहता है, "अजी आइये, मैं चल रहा हूँ।" इक्के वाला इसको इस बेतकल्लुफ़ी से कहता है कि बैठने वाला भी उसको कुछ नहीं तो अपनी ससुराल का हज्जाम ज़रूर समझता है। सवारी किराया पूछती है तो फ़ौरन कहता है "अजी जो चाहे सो दे दीजिये। आप मालिक हैं।" इन शब्दों को सुनकर बैठने वाला भी यह समझता है कि इक्का उस के बाप का है। टैक्सी मोटर वालों और ताँगे वालों की बहस से हर बी० ए० पास या इंटरमीडियट फ़ेल या महज़ हाई स्कूल या उर्दू मिडिल पास इंसान की रूह को जो तकलीफ़ पहुँचती है वह बयान के बाहर है। इक्के वाले की सभ्यता को देखिये कि न जान न पहचान उस पर यह तपाक। किराया न चुकाने से उसकी शराफ़त का पता चलता है। जब सवारी बैठ जाती है तब उसे वह अपनी औलाद के माफ़िक समझता है। अगर और ज़्यादा इज़्ज़त देना हुई तो कहता है "आप आगे आजाइये। यहाँ आराम से बैठिये।"

ख़ुदा बेहतर जानता है कि सामने बैठने वाले को कितना आराम मिलता है। दुबला-पतला आदमी तो पतंग की डोर-

सा चिपका रहता है। जल्दी से चढ़ जाता है और जल्दी से उतर जाता है। मगर मोटे आदमी की मुश्किल है। जुमैरात की नौचंदी वाले रोज़ एक महाशय जो बहुत मोटे थे एक इक्के की अगली सीट पर बैठे। बेचारे बहुत मोटे थे। एक मुटापा तो वह होता है जो अकसर देखने में आता है और जिसका वज़न गधे से लेकर खच्चर तक उठा सकता है। मगर एक मुटापा वह होता है जिससे इंसान का चलना-फिरना दूभर हो जाता है। मैं और एक मेरे मित्र इक्के पर पहले ही से बैठे थे। सामने की जगह खाली थी। इक्के वाला ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रहा था "एक सवारी।" क़िस्मत के मारे एक स्थूल शरीर वाले इक्के की तरफ़ धीरे-धीरे बढ़ रहे थे। मगर इतने धीरे-धीरे जैसे सड़क कूटने वाला इंजन। हाँपते हुए बड़ी मुश्किल से इक्के के आगे बैठे। बड़ी मुसीबत से घोड़ा चला मगर एक फ़र्लाङ्ग चलने के बाद रुक गया। आख़िर यह हुआ कि हम लोग उतर पड़े। मगर वह न उतर पाये। उन्होंने ख़ुद बड़ी कोशिश की मगर उतरते तो कैसे उतरते? इतने मन का वज़न एक पुराने, कमज़ोर, और छोटे इक्के से कैसे उतरे! जब घोड़ा खोला गया और बम ज़मीन पर टिकाये गये तब बेचारे उतर पाये। मगर इंसान मोटा हो या दुबला, सामने बैठने वाला न मालूम क्या समझ कर वहाँ बैठता है? धक्कों से कभी नीचे झुक जाता है और कभी ऊपर उठ जाता है। घोड़े की जानदार पूँछ मक्खियाँ भगाते हुए बराबर उसकी टाँगों और घुटनों पर ज़ोर-ज़ोर से हमला करती है। वहाँ बैठना ऐसा ही है जैसे सर्कस की ट्रौपीज़ पर जोकर का क़याम करना। "गोल्ड रश" में चार्ली चैपलैन की भी ऐसी ही हालत हुई थी। अगर सवारी सँभल कर न बैठे तो ढाल पर घोड़े की पीठ तक सरक जाये। सवारी को अपनी बग़ल में बिठाकर

इक्के वाला यह दिखाता है कि वह हरएक को बराबर समझता है। गोया, सवारी उसके बगल में बैठ जाये तो उसे कोई एतराज़ नहीं। वह उसको अपना सगा हमज़ुल्फ़ ही समझेगा। यह उसकी समदृष्टि है। इसमें कोई शक नहीं कि बैठने वाले को बेहद तकलीफ़ होती है मगर हर मसख़रा समझता अपने को इक्के वाले ही के बराबर है। वह आगे बैठने में शर्फ़ समझता है मगर यह नहीं जानता कि पीछे बैठे हुए दो मसख़रे उसे अपनी गोद ली हुई औलाद से कम फ़िज़ूल नहीं समझते। और इक्के वाला तो उसे अपना चचा-ज़ात भाई ही समझता है।

एक साहब इक्के की तारीफ़ में बोले "जो चढ़े सो पछताय, जो न चढ़े सो पछताय।" इससे उम्दा तारीफ़ मैंने आज तक नहीं सुनी। जिस वक़्त धीरे-धीरे इक्का चलता है उसकी रफ़्तार में एक अजीब तकल्लुफ़ का भाव होता है। रास्ता लंबा हो मगर घोड़े को दौड़ाने से क्या फ़ायदा? तेज़ घोड़े वाले इक्कों की जल्दी सफ़र के मज़े को किरकिरा कर देती है। ऐसे इक्कों पर बैठना ग़लती है। इक्का वही है जिसके पहिये धीरे-धीरे घूमें और जल्दी न मचायें। इक्केवाला किसी फ़िलासफ़र से कम नहीं है। वह जानता है कि प्रत्येक क्षण में अनन्त का भाव है और जीवन भी एक इक्के की सवारी है जिसके अंधेरे रास्ते में लालटैनें कम हैं। किस शांत भाव से दो टिमटिमाती बत्तियों को लिये लंबी और अँधेरी सड़क पर त्याग की मूर्ति, इक्का अपना सफ़र तय करता है। कितनी तकल्लुफ़! कितनी शांति! यह इक्का रास्ते में कई बार रुकता है। कारण यह है कि एक न एक बत्ती बुझ जाती है। कड़ुवे तेल से जलने वाली बत्ती ऐसी नाज़ुक सवारी में कहाँ तक जल सकती है? इक्के वाला चाबुक रख कर आहिस्ता से उतरता है। माचिस उधार लेकर

बत्ती जलाता है और फिर आहिस्ता-आहिस्ता चलने लगता है। मौत, शादी और दावत में जाने वाला कभी इक्के में न बैठे। कभी वक़्त से नहीं पहुँच सकता। मगर वक़्त से पहुँचने की ज़रूरत ही क्या है? इक्के वाला जब कभी किसी सवारी को इस हालत में बड़बड़ाते पाता है तो फ़ौरन कहता है, "अजी हज़रत, मिनटों में पहुँच जाइयेगा। फिर ख़याल कीजिये इक्का है मोटर नहीं है।" इस दलील का कोई जवाब नहीं है। जिसका जी चाहे बैठे, जिसका जी चाहे न बैठे। उसके इक्के की चाल टकसाली है और उसके जर्फ़ में कभी कमी नहीं होती। इक्का ही एक ऐसी सवारी है जिस पर बैठने वाला आदमी मजबूर होकर दुनिया को ग़ौर से देखता है। तेज़ सवारी में बैठकर जीवन-निरीक्षण इतनी सुगमता से नहीं हो सकता।

किसी इक्के के छोटे और कमज़ोर घोड़े पर तरस खाना भी एक ग़लती है। जितना इतमीनान इस घोड़े में है उतना किसी और जानवर में नहीं। लगता मुर्दा है और चलता भी मुर्दे के समान है मगर छै-सात मन की ज़िंदा लाशों को ले जाना उसी का काम है। जहाँ जी चाहता है वहाँ रुक जाता है। जानता है उसके इक्के पर बैठे लोग उसकी इस ज़रा सी बेतकल्लुफ़ी का बुरा बिल्कुल न मानेंगे। जो अहले-ज़बान नहीं हैं उसे "अड़ियल" कहते हैं। वह गाली का आदी नहीं है हालाँ कि चाबुक का बहुत आदी है। स्वतंत्र इस हद तक है कि हमेशा एक चाल चलता है चाहे चाबुक पड़े या न पड़े। चालचलन का भी नेक है। किसी से न तो लड़ता है और न झगड़ता है। शऊर इतना है उसमें कि आज तक उसे किसी ने हिनहिनाते नहीं सुना।

जिस इक्के में ऐसा गंभीर और शांतिप्रिय घोड़ा जुते उसके क्या कहने! मगर इक्के वाले के गुण कम नहीं हैं। ज़माने

भर की ख़बरें उससे सुन लीजिये। उसकी बातचीत निराली होती है। ऐसी गप्पें उड़ाता है कि तबीयत ख़ुश हो जाती है। मगर जो उसे झूठा कहे वह दुनिया का सबसे बड़ा झूठा। जिस प्रकार उसके इक्के में प्राचीनता का भाव होता है और उसके घोड़े में वज़ादारी, उसमें भी वाक्-चातुर्य अपने ढङ्ग का होता है। आप मजबूर होकर हूँका भरते जाइयेगा। "अजी हज़रत, वह ज़माना गया। कभी हमारा भी वक़्त था। ख़ुदा शाहिद है इसी चौराहे पर वालिदा मरहूम के ज़माने में पाँच-पाँच दस-दस रुपये रोज़ ख़र्च हो जाते थे। यह ज़लील काम तो हमारे यहाँ किसी ने किया ही नहीं। क़िस्मत की गर्दिश है कहाँ से कहाँ ले आई।" इतना कहने के बाद लंबी साँस लेकर इक्के वाला चाबुक उठाकर घोड़े से कहता है "चलो बेटा, चलो, सँभल के आहिस्ता।" घोड़ा अपनी ही चाल चलता है। सड़क के किनारे मूँगफली की टोकरा जिस पर तेल की कुप्पी जलती है, अभी साफ़-साफ़ दिखाई दे रही है। जब तक हम मूँगफलियाँ गिन नहीं लेते, घोड़ा आगे बढ़ता ही नहीं। इसी बीच में इक्के वाला गाने लगता है, "आराम के थे साथी क्या क्या जब वक़्त पड़ा तो कोई नहीं।" अब घोड़ा और धीरे हो जाता है। इक्के वाला भी गाता जाता है और ऊँघता जाता है। और सवारियों का जी चाहता है कि ज़हर खाकर मर जायें।

इक्का बुरा हो या अच्छा मगर अपना सानी नहीं रखता। सफ़र चाहे दो फर्लांग का हो या दस मील का इक्के ही पर करना चाहिये। शान में किसी से कम नहीं, इतमीनान में तो अपना जवाब नहीं रखता। ख़ुदकुशी करना हो इसी पर बैठ कर जाये। फाँसी पर लटकना हो तो इसी पर बैठ के जाये। कुछ घंटे तो ज़िंदगी बढ़ ही जायेगी। क़र्ज़दार को अपने बनिये के यहाँ जाना हो तो इक्के से जाये। बीमार को अगर डाक्टर

के यहाँ जाना तो इसी पर जाये। कुछ देर तो और ज़िंदा रह लेगा। पुलिस के थाने जाना हो तो इसी पर जाये। कुछ देर और पुलिस से बचा रहेगा। और अगर कोई शख़्स अपनी जोरू के ग़ुस्से से डरता हो और रात में देर हो जाये तो इसी पर लौटे। बाद मरने के सब गुनहगार अल्ला मियाँ की इजलास में भी इक्के ही पर बैठ कर जायेंगे। अच्छा है, देर में पहुँचेंगे तो देर में सज़ा भी मिलेगी।

ताश की बाज़ी

पहले मैं लखनऊ के पतंगबाज़ ही को दुनिया का सबसे फ़िज़ूल आदमी समझता था। इसमें क्या तुक है कि एक आदमी अपने कुछ साथियों के साथ दिन भर एक क़ाग़ज़ की पतंग को आकाश में उड़ाकर इस बात की कोशिश में रहे कि जिस पतंग पर उसकी पतंग आक्रमण करे वह कट जाये! "वह काटा! वह काटा!" के नारे आकाश में गूँज जाते हैं और दर्जनों की संख्या में आदमी इधर-उधर दौड़ने लगते हैं। कटी हुई पतंग को पकड़ने के लिये लोग पेड़ों पर और छतों पर चढ़ते हैं। आकाश में और उड़ने वाली पतंगें भी उसे अपनी लपेट में लाने का प्रयत्न करती हैं। ऊँचे पेड़ों में लटकती हुई डोर और माँझे को निकालना भी वे अपना धर्म समझते हैं। वह पतंग जो उसे काटती है विजय पाकर और ऊपर उड़ने लगती है। इसी में दिन बीत जाता है। पतंगबाज़ इसे कभी फ़िज़ूल नहीं समझता। रही ज़मीन पर रहने वाली दुनिया उसका वह बिल्कुल परवाह नहीं करता। पतंग के साथ साथ वह ख़ुद आकाश में उड़ता है।

मगर जब मैं नैनीताल गया तो वहाँ के शौक़ीन मछली-

बाज़ों को लखनऊ के पतंगबाज़ों से कहीं ज़्यादा फ़िज़ूल पाया। नैनीताल की लेक की परिक्रमा करते समय अजब-अजब आदमियों के दर्शन होते हैं। मगर सब से विचित्र प्राणी तो वहां एक है। एक अच्छा खासा शरीफ़ आदमी। क़ीमती गरम कपड़े पहने हुये, झील के किनारे बैठा है। डेगेन पानी में है और प्रति क्षण मछली के फँसने की प्रतीक्षा है। मगर वह एक कहानी की किताब पढ़ने में मस्त है। शायद व्हीलर स्टाल के यहाँ से खरीदी हुई कोई खून या प्रेम की कहानी है। घंटों यों ही बैठा रहता है। उसे संसार और कुटुम्ब किसी की चिंता नहीं। नाश्ता साथ लाता है। दिन भर में अगर एक मछली भी न फँसे ता उसे कोई चिंता नहीं। सोचने की बात है कि एक पढ़ा-लिखा शरीफ़ आदमी महज़ एक या दो मछलियां पकड़ने की खातिर अपना पूरा दिन क्यों खराब कर देता है। क्या मछली बाज़ार में नहीं मिलती? और अगर जासूसी कहानियां पढ़ने का शौक है तो अपने कमरे में बैठ कर पढ़े। आँखें उसका किताब में गड़ी रहती हैं मगर उसकी कल्पना झील की तह में घूमा करती है जहां मछलियाँ घूमा करती हैं।

कुछ ऐसा इत्तफ़ाक़ हुआ कि नैनीताल के बाद ही मुझे कलकत्ते जाना पड़ा। मित्रों के आग्रह से घुड़दौड़ जाने का मौक़ा हुआ। घुड़दौड़ के जुआड़ी को देख कर मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि पतंगबाज़ और मछलीबाज़ उसके सामने कोई चीज़ नहीं। मैंने मन में कहा दुनिया का सबसे फ़िज़ूल आदमी यही है। ताँगेवालों के घोड़े जब छूट कर सड़क पर भागने लगते हैं तो पकड़ कर बाँध दिये जाते हैं। उन पर बाज़ी क्यों नहीं लगाई जाती? घुड़दौड़ के घोड़ों पर बाज़ी लगाई जाती है। मैं पूछता हूँ, "क्यों?" दौड़ें, हमारी बलाय

से। हमें क्या ज़रूरत है कि हम सैकड़ों रुपये इस बात पर ख़र्च कर दें कि कौन अव्वल आयेगा। रेस में जानेवाला इस उधेड़बुन में रहता है कि कौन घोड़ा सबसे तेज़ दौड़ता है। भला बताइये, शरीफ़ इंसान का यह जानने की क्या ज़रूरत है। घोड़े-घोड़े ही हैं, हमें उनसे क्या मतलब? उन पर बाज़ी लगाना और जुँआ खेलना पागलपन है। घुड़दौड़ में मस्त रहने वाला आदमी दुनिया को भूल जाता है। उसके दिमाग़ में घोड़े ही घोड़े भरे रहते हैं। यही वजह है कि वह दुनिया का सबसे फ़िज़ूल आदमी है।

रात हो गई थी। जब लौटा तो देखा जिन साहब के यहाँ मैं ठहरा था उनके चचा एक डिक्शनरी लिये हुये क्रौस वर्ड पज़ल हल कर रहे थे। न उन्होंने हमारे साथ खाना खाया और न बातचीत की। तीन घंटे के बाद जब हम लोग सोने जा रहे थे, भागते हुए आये और बोले, "मैड ही हो सकता, सैड कभी नहीं हो सकता।" मेरे मित्र ने कहा, "क्या हुआ चाचा जी?" बोले, "यह ढूँढ़ना था कि प्रेम में मनुष्य की हालत क्या होती है। वह पागल होता है या दुखी? मैंने तो मैड ही लिखा है। देखना यही निकलेगा।" इतना कह कर वह फिर अपने कमरे में घुस गये। मैं एक हफ़्ते कलकत्ते रहा मगर उनसे दो-चार ही मिनिट रोज़ मुलाक़ात होती थी। इस तजुर्बे के बाद जिसको क्रौस वर्ड पज़ल के चक्कर में देखा इसी रंग में पाया। आप देखियेगा, अगली मर्दुमशुमारी में पचास फ़ी सदी ऐसे लोग पागलख़ानों ही में मिलेंगे। जो आदमी दो शब्दों की तकरार में अपना दिमाग़ पीस डाले और जिसकी कल्पना बाँझ हो जाये, वह आदमी कब है? जो आदमी अक्षरों और शब्दों से अपने शरीफ़ दिमाग़ को लड़ाये और बग़ैर नतीजे के उससे ज्यादा फ़िज़ूल कौन हो सकता है?

मगर अभी छै महीने से मैं एक ऐसे नतीजे पर पहुँच चुका हूँ जिसे मैं इस जीवन में नहीं बदल सकता। मैं एक ऐसे अटल सत्य पर पहुँच गया हूँ जिसे मैं कभी भुला ही नहीं सकता। फ़िज़ूलियात की खोज-बीन करते-करते इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि ताशबाज़ी से ज़्यादा फ़िज़ूल मशग़ला इस क्षण-भंगुर संसार में नहीं है। मानिये चाहे न मानिये। यह मेरा अटल विश्वास है। इसलिये ताश ऐसी चीज़ पर ग़ौर करना ज़रूरी है। उसके बावन पत्तों की मूक भाषा में बड़े बड़े भेद छिपे हैं। मालूम नहीं किस वजह से ताश के बनाने वालों ने एक त्रेपनवां पत्ता भी रखा है जिसे जोकर कहते हैं। ग़ौर करने से पता चलता है कि इसमें भी भेद है। इस पत्ते में हर खेलने वाला अपनी शकल देख सकता है। हर खेलने वाला एक जोकर है जो बग़ैर समझे-बूझे मज़ाक़ करता है! अगर वह जोकर खुद न होता तो घंटों हार और जीत के हवाई क़िले क्यों बनाया करता? कल्पना की रस्सी पर कूदने-फाँदने वाला यह नर बड़ी-बड़ी "चालें" चलता है और पैदायशी मसखरा है। ज़रा बादशाह की शक्ल को मुलाहज़ा कीजिये। किसी इंदर सभा के अखाड़े का मिटा हुआ ताल्लुक़े-दार मालूम पड़ता है जिसके सिर पर उधार में लाया गया ताज रिआयतन रख दिया गया हो। लंबे लंबे पट्टों और कैंची से तराशी हुई मँझली दाढ़ी के बीच में एक चेहरा है जिसकी काली भौंहों के नीचे दो अय्याश आँखें हैं। एक हाथ कलेजे पर है और दूसरा पेट पर। शाही लिबास पहने यह बादशाह बग़ैर सलतनत के एक क़ाग़ज़ पर बिठा दिया गया है। सच तो यह है कि अगर किसी प्राचीन बादशाह को ज़लील करना हो तो उसकी तस्वीर ताश के बावन पत्तों में रख दीजिये। अगर इक्के के व्यक्तित्व में मरघट का सूनापन है तो बादशाह

की तस्वीर भी "गुलबकावली" वाले फ़िल्म के बादशाह से मिलती-जुलती है। ताश की बिबियाँ मासूम रांड लगती हैं। बादशाह की बीबी तो लगती नहीं मगर यह ज़रूर मालूम होता कि दोनों की अभी अभी ताजमहल होटल में ज़बर-ज़स्ती सिविल मैरिज हुई है। जिस पत्ते का नाम ग़ुलाम है उसे ग़ुलाम कहना अन्याय है। सूरत से तो वह वली अहद लगता है चाहे बादशाह का असली लड़का हो या न हो। हां, मगर बिबियाँ उसकी माँ तो नहीं, सौतेली मां ज़ुरूर लगती हैं। दहले के अलावा और पत्तों की वक़त ही क्या? असल में ताश के बावन पत्ते चंडूख़ाने ही के लिये बने थे। ख़ुदा जाने शरीफ़ों ने इन्हें क्यों अपनाया?

अफ़ीमची अफ़ीम खाता है तो अफ़ीम के नशे का मज़ा लेता है। लखनऊ की दोपलिया टोपी अगर उसके पाव भर दूध में गिर जाये तो वह उसे मलाई समझ कर खा सकता है। उसकी कल्पना-शक्ति प्रबल होती है। चंडूबाज़ भी चंडू का इस्तेमाल करके सातवें आसमान पर गिल्ली-डंडा खेलता है। भंग के प्रयोग करने वाले को जू के भालू में त्रिमूर्ति के दर्शन होते हैं। नशे में उसे भगवान की दिव्य मूर्त्ति सड़क पर चलती-फिरती दिखाई देती है। हँसना, रोना, खाना, सब कामों में वह अव्वल रहता है। उसका आनंद आत्मिक है। शराबी नशे में शेर होता है। जुआड़ी को कौड़ी से लेकर गिन्नी तक का नशा होता है। जैसे बिल्ली चूहे को खेला खेला मारती है वैसे ही जुआड़ी भी दौलत का शिकार हँसते-हँसते करता है। मगर जनाब ताश खेलने में क्या ख़ूबी है? जब कभी मैं दो-चार लोगों को घंटों ताश खेलते देखता हूँ मुझे उनके धैर्य पर आश्चर्य होता है। ताश वालों ने ऐसे-ऐसे खेल निकाले हैं जिनकी एक-एक बाज़ी तीन-तीन घंटे में

ख़त्म होती है। याने सोचने की बात है कि चार भले आदमी क्लब में बैठ कर घंटों अपना वक़्त योंही ख़राब कर सकते हैं! क्लब भी अच्छा ख़ासा एक अंग्रेज़ी क़िस्म का चंडूख़ाना है जिसमें टैनिस कम होती है और वक़्त ज़्यादा ख़राब होता है। यह ताशबाज़ों का शरीफ़ अड्डा है जहाँ पढ़े-लिखे ठलुऐ अपनी बीबिओं से झूठ बोल-बोल कर ताश की बाज़िओं में फँसे रहते हैं। ब्रिज और फ़लास ताश के तिलिस्मी क़िले हैं जिनकी भूल-भूलैया में इस क़िस्म के सैकड़ों नर खो जाते हैं। यह शरीफ़ों की दिवाली का जुआ है जो बारह मास चलता है। घंटों यह लोग सिगरेट और सिगार के धुंऐ में छिपे हुए एक-एक चाल पर अपना सिर धुन डालते हैं। यहाँ की रोशनी में कई क़िस्म के चेहरे दिखाई देते हैं। आँखें घुसी हुई, गाल पिचके हुए और पीला चेहरा—यह एक क़िस्म है। दूसरे वे जो मोटे-ताज़े क़िस्म के इंसान होते हैं जिनकी पाचन-शक्ति कमज़ोर होती है। कुछ ऐसे भी होते हैं जो न तो दुबले होते हैं न मोटे मगर जिनके लिये गारंटी है कि क्लब में छै महीने बैठने के बाद उन्हें डाइबिटीज़ हो जाती है। मगर खेलते सब ताश हैं। उनके जीवन की हर शाम के दो-चार घंटे इसी दरे-जाना पर क़ुर्बान हैं। बग़ैर खेले उन्हें चैन नहीं पड़ता। उनकी झगड़ालू बीवियाँ भी रफ़्ता-रफ़्ता आदी हो जाती हैं।

चौपड़ खेलते-खेलते कौरवों और पांडवों में महाभारत की लड़ाई ठन गई। द्रौपदी का चीर-हरण, आपस का वैमनस्य, अर्जुन की चिंता और कृष्ण का उपदेश, यह बातें बग़ैर चौपड़ खेले नहीं हो सकती थीं। भगवत गीता ही कहाँ से आती अगर चौपड़ की बाज़ी न खेली जाती? दूर क्यों जाइये, अवध की बादशाहत ही न ख़त्म होती अगर शतरंज न खेली

जाती। ठीक है। टोटे में हम ही आप तो रहते। न शतरंज खेली जाती न राम-राज्य के दर्शन होते। धन्य है शतरंज तेरे भाग्य!

ताश खेलने में भी बड़े-बड़े फ़ायदे हैं? मगर यों ही ख़ाली ज़बानी हारने और जीतने में ताशवाले को कोई आनंद नहीं आता। बग़ैर पैसों की बाज़ी बेकार है। उसमें खेलने वाला कभी प्रोत्साहित नहीं होता। पैसे और रुपये की बाज़ी ही असली बाज़ी है। इसे जुँआ नहीं कहते हैं। जुँआ तो खेलते हैं जुँआड़ी। पत्तों पर पैसे लगाना और वह भी किसी क्लब में बैठ कर, जुँआ नहीं है। वह महज़ शरीफ़ों का अख़लाक़ है, उनकी सभ्यता है। अगर पैसों और रुपयों से न खेलें बेचारे तो क्या फूटी कौड़ियों से खेलें? जिस बाज़ी की वजह से लोग अपनी बादशाहत त्याग दें, बहादुरी की लड़ाइयाँ लड़ें और न्याय और धर्म के लिये ख़ून की नदियाँ बहा दें उसकी कहाँ तक प्रशंसा की जाये? बेचारे वकील, बैरिस्टर या डाक्टर या प्रोफ़ेसर अगर दो-चार दस-बीस, सौ-पचास की रक़म ख़र्च कर देते हैं तो क्या जुँआ खेलते हैं? हर्गिज़ नहीं। इन मासूम नेक मर्दों को क्या इतना भी हक़ नहीं है? इन विद्वानों पर हम क्या एतराज कर सकते हैं? वे जानते हैं कि लक्ष्मी चंचला है। जभी तो वे इससे दिल नहीं लगाते। इसीलिये तो ब्रिज खेलना हर शरीफ़ का एक अनिवार्य गुण है। जो ब्रिज खेलना नहीं जानता वह क़र्ज़दार होना नहीं जानता। और जो क़र्ज़ नहीं लेता उसकी अगली सात पुश्तों में सूम और मक्खीचूस ही पैदा होते हैं।

जहाँ तक सभ्य संसार का ताल्लुक़ है ताश विश्व-व्यापी है। घरों में भी उसका राज्य है। मगर वहाँ ताश जो घरों में साधु की हैसियत से रहता है क्लबों में आरामतलब वेश्या

के समान अपनी दूकान सजा कर रहता है। घर के ताश में संयम है; क्लब के ताश में कुलटा का चरित्र। अगर एक मामूली ब्रीड वाला पालतू कुत्ता है तो दूसरा दो सेर कच्चा गोश्त खाने वाला शिकारी कुत्ता। घर में खेला जाने वाला ताश इस क़दर नेक और बेगुनाह होता है जैसे कोई जोरू का ग़ुलाम। घर में ताश लोग इसलिये खेलते हैं कि वक़्त अच्छा कटे। क्लब में क्लबवाले ताश इसलिये खेलते हैं कि वक़्त कटे और ख़राब दोनों हो। घरवाले अगर ताश न भी खेलें तो उनका कोई क्या बिगाड़ सकता है? क्लब में बैठने वाला सभ्य प्राणी अगर ताश न खेलेगा तो करेगा क्या? अगर नहीं खेलता है तो उसकी इज्जत में फ़र्क़ आता है। ताशबाज़ी उसकी इज्जत का तराज़ू है। जो क्लब नहीं जाता, वह हैवान है और जो वहाँ जाकर ताश नहीं खेलता वह हैवान का बाप है। घर में खेलिये या न खेलिये आपकी बीबी पर इसका कोई असर नहीं होगा। वह आपको अपना शरीफ़ मर्द ही समझेगी। क्लब वाला अगर ब्रिज वग़ैरह का शौक़ नहीं करेगा तो अपनी मनकूहा बीबी याने अपनी अर्धांगिनी की नज़रों में गिर जायेगा। घर में ताश खेलने वाले लोग पैसे लगायें या बग़ैर पैसे की बाज़ी खेलें। उन पर कोई एतराज़ नहीं कर सकता। क्लब में जाकर तो कोई इसकी जुरअत करे? गँवार समझा जायेगा। वहाँ जाकर तो उसे ख़र्च करना ही है। इसी में उसकी इज्ज़त है। इसके अलावा घर में चाहे कितनी ही थोड़ी देर खेलिये और चाहे कैसे ही पार्टनर रखिये, कोई हर्ज नहीं। आप, आपकी बीवी, आपका साला, आपके मामू, आपके चचा, आपके ससुर, सब खेल सकते हैं। आप चाहे आध घंटे खेलिये या एक घंटे, आनंद उतना ही आयेगा। क्लब का टाइम घंटों ही के हिसाब से गिना जाता है, मिनिटों के हिसाब

से नहीं। जितनी देर में घर लौटियेगा उतनी ही आपकी शान पबलिक में होगी। इसके अलावा बग़ैर तीन-चार घंटे रोज़ खेले आपको कोई ऐसी बीमारी होने की भी उम्मीद नहीं हो सकती जो हर क्लब के हर शरीफ़ मेंबर को होना चाहिये। रही पार्टनर की बात, वह भी इज्ज़तदार इंसान होना चाहिये, आपके मामू और चचा नहीं। घर का ब्रिज घरेलू है मगर क्लब का ब्रिज एक दूसरी चीज़ है। जब तक किसी बग़ैर प्रैक्टिस और बग़ैर मतब वाले डाक्टर या बेरोज़गार नवाब के साथ न खेला जायेगा, मज़ा ही नहीं आयेगा। यही तो ब्रिज की ख़ूबी है। वरना खेलता कौन ? असल में मध्यश्रेणी का आदमी इसे खेल कर अपनी आर्थिक मर्यादा की रक्षा करता है।

ताश के कई खेल हैं मगर जिसे ज़्यादातर लोग खेलते हैं उसका नाम कटपीस है। चार आदमी याने मर्द या-औरत या मर्द और औरत इसे खेलते हैं। क्लब के ब्रिज के आगे इसकी दाल नहीं गलती। अगर ब्रिज ब्राह्मण है तो यह कायस्थ है। इसमें जुँआ नहीं खेलते और यह इसमें एक कमी है। यह घर में खेला जाता है मगर इसके खेलने वाले भी घंटों एक ही स्थान पर बैठ कर खेल सकते हैं। तेरह पत्ते लिये एक व्यक्ति अपने सामने बैठे हुए पार्टनर के तेरह पत्तों को अपना समझता है। पहले पाँच पत्ते बँटने के पश्चात जब ट्रंप याने उर्फ़ तुरुप बताया जाता है उस समय जिस उत्सुकता से खेलने वालों का दम घुटता है उसका उदाहरण कालिदास की "शकुंतला" में मिलता है जब दुष्यन्त अँगूठी नहीं पहचानता और शकुन्तला सहमी हुई खड़ी रहती है। तुरुप ताश की आत्मा है। बिना उसके ताश में कभी मज़ा नहीं आता। माशूक़ का खंजरे-आबरू, पुलिस का दुमकटा डंडा, शुहदे की

क़रौली, डाकू का पिस्तौल, मास्टर की छड़ी, बीवी की झाड़ू, किसी अनजान की तेग़े-सितम, या फिर ताश का तुरुप,—यह सब हथियार हैं जिन्हें हथियार वाले मौक़े से चलाते हैं। अगर तुरुप न होता तो ताश में हार-जीत का फ़ैसला कौन करता? उसकी दुग्गी या तिग्गी के आगे दूसरे रंग के बादशाह और इक्के सिर झुकाते हैं। जिसके पास तुरुप नहीं होता वह उस बिना सुहाग वाली स्त्री की तरह होता है जो अपनी चूड़ियाँ तोड़ डालती हैं। जहाँ खेल शुरू हुआ सारे वातावरण में तन्मयता समा जाती है जिसका पता भाव-भंगी से चलता है। हार और जीत का फ़ैसला कल्पना ही नहीं करती, यथार्थ भी करता है। ताश के दुश्मन यह न कहें कि यह सब कल्पना का खेल है। खेल कर देखिये तब पता चलेगा। जिस समय आप जीतेंगे उस समय ऐसा लगेगा जैसे आपको कोई जागीर मिल गई है। जब आप हारेंगे तब आपको ऐसा लगेगा कि अपनी मुख़ालिफ़ पार्टी को ज़िंदा दफ़न करवा दें। असली जीत और असली हार में ही ऐसे भाव पैदा होते हैं। ताश खेलते समय खेलने वाले की इज्ज़त बन जाये या बिगड़ जाये। यही है उसके जीवन की जीत या हार। जिस खेल में ऐसा सुन्दर और प्रभावशाली भाव उत्पन्न हो उसकी कहाँ तक प्रशंसा की जाये? गाया कटपीस की बाज़ी क्या है, हार-जीत का नाटक है, जिसमें साहित्य के सब गुण वर्तमान हैं। शब्दों की अभिधा, लक्षणा, व्यंजना ऐसे गुणों का समावेश खेलनेवालों की बातचीत में होता है। किसी बाप को अपनी औलाद की इतनी फ़िक्र नहीं होती जितनी खेलने वाले को अपनी बाज़ी की होती है। आपका पार्टनर अच्छी चाल चलता है तो आप उछल पड़ते हैं ख़ुशी से। मगर जब वह कोई बुरी चाल चलता है तो आपके क्रोध की सीमा नहीं रहती। वह चाल जिससे बाज़ी हाथ से जाती

रहे लड़ाई के मैदान की हार है। एक अक़्लमंद और गैरत-मंद आदमी ने अपने बेवक़ूफ़ पार्टनर को गलत चाल चलने पर गोली मार दी थी। इसको कहते हैं आत्म-रक्षा। जान जाये मगर इज्ज़त न जाये।

मगर जनाब, दुनिया बड़ी विचित्र है। बहुत से ऐसे आदमी मिलेंगे जिन्हें ताश के पत्तों में रेंडी के तेल की बू आती है। धार्मिक या दक़ियानूसी लोगों की अक्सर यह आदत होती है कि जहाँ उन्होंने ताश के पत्तों को मेज़ पर पड़ा देखा और उनकी खुदा-परस्त भौंहें सिकुड़ गईं। कुछ लोग ताश की बाज़ी को चोरी और डकैती से कम नहीं समझते। जहाँ ताश खेलते लोगों को देखा कि उनकी पाकदामन आँखें शोक से पथरा गईं। "तोबा। तोबा। अल्लाह की लानत हो इस खेल पर! जिसे चालचलन बिगाड़ना हो इसे खेले।" इस तरीक़े से एक साहब बलबलाये। मगर इन बुज़ुर्ग को यह नहीं मालूम था कि इनके सुपुत्र शाम को खुद यही काम करते हैं और बराबर अपनी चालचलन सुधारते चले आये हैं। आखिर लोगों को क्या पड़ी है कि ताश की ऐसी तीव्र समा-लोचना करें? ऐसे लोग या तो ताश खेलना जानते ही नहीं या इस क़दर हार चुके हैं कि उससे नफ़रत हो गई है। बात यह है कि "हाथ भर का हो कलेजा" तब इस खेल को खेले। या तो इसे खेलेगा रईस या क़र्ज़दार। कम से कम क्लब में तो लोग ऐसा ही कहते हैं। रही घर के ताश की बात, इसके लिये भी कम से कम एक तिहाई हाथ बराबर कलेजे की ज़ुरूरत तो है। जिसके पास दिल नहीं है वह ताश क्या खेलेगा? सच पूछिये तो संसार में ताश की बाज़ी से अच्छी कोई बाज़ी नहीं। किसी को दो रुपये वाली पतंग काटने में वह मज़ा नहीं आता जो "हाथ" काटने में आता है। जब रेस का

जीतने वाला घोड़ा रास्ते में गिर पड़ता है तब उतना रंज नहीं होता जब ताश में हाथ बनते-बनते रह जाता है। वाक्-चतुर्य सभा-चातुर्य या इल्मे-मजलिस ताश की देन हैं। पहले ज़माने में बड़े-बड़े आदमी वे ही होते थे जो ताश खेलने में प्रवीण होते थे। शंका हो तो इतिहास के पन्नों को उलट कर देखिये। वाक़या तो यह है, दुनियादारी सीखने के लिये ताश ज़रूर सीखना चाहिये। आनेवाले ज़माने में माँ-बाप ज़रूर इसकी तालीम देंगे। मैं पूँछता हूँ जब तक आप ख़ुद पत्तेबाज़ न होंगे दुनियाँ के पत्तेबाजों का क्या मुक़ाबला करियेगा ?

कुत्तों के तेवर

सुनते हैं कि अल्ला मियाँ जब दुनिया की सारी ज़िंदा चीज़ों को बना चुके तो एक इंसान एक कुत्ते को देखकर हँस पड़ा। हँसना था कि कुत्ता क्रोध-वश ज़ोर-ज़ोर से भोंकने लगा और सामने के दोनों पैरों से ज़मीन खोदने लगा। जब अल्ला मियाँ ने उसे ख़ुद पुचकारा तब चुप हुआ। फिर वही इंसान जब अपनी मूछों पर ताव देने लगा तो कुत्ते से न रहा गया; वह भी दुम हिलाने लगा। तभी से कुत्ता दुम हिलाता आ रहा है। और जब कभी इंसान को देखता है तो भोंकने लगता है।

समझ में नहीं आता कि लोगों ने कुत्ते ऐसे जानवर को दुनिया के निकृष्ठ जानवरों में क्यों स्थान दिया है। कुत्तों के भी तेवर होते हैं, चाहे मानिये या न मानिये। पहली चीज़ तो दुम है जिसे हम छोटी चीज़ कभी न समझें। इस दुम की बो-बो अदायें हैं जो बयान नहीं की जा सकतीं। कुत्ता इसी बेजान दुम से न मालूम क्या-क्या काम निकालता है। यह एक प्रकार की मूक भाषा है जिसके संकेतों को समझने के लिये बरसों

कुत्तों के सत्संग की आवश्यकता होती है। मामूली आदमी इन सूक्ष्म इशारों को समझने में असमर्थ है। जिस प्रकार मनुष्य की भाव-भंगी से उसके विचारों का पता चलता है। उसी प्रकार कुत्ते की दुम की भी अदायें होती हैं जिससे किसी हद तक इस मासूम जानवर की मानसिक स्थिति का पता चलता है। किसी काली जंगली बिल्ली को देखकर जब कुत्ता दुम हिलाता है तो उस दुम हिलाने में एक शिकारी के हिंसात्मक भावों का समावेश होता है। दुम के धीरे-धीरे हिलाने से शिकार की प्रतीक्षा और आक्रमण की वेगता का पता चलता है। बिल्ली के पीछे दौड़ने में वही दुम खड़ी हो जाती है और असली शिकार का द्योतक बन जाती है। मगर वाह री दुम, जब चाहा गिर गई और जब चाहा खड़ी हो गई। और जब हिलती है तो पचास तरीक़ों से हिलती है। घर में मालिक घुसा नहीं कि कुत्ता दुम हिलाकर स्नेहपूर्वक उसकी ओर बढ़ा। कुत्ते ने इस आदत का इतना ज़बरजस्त रियाज़ किया है कि दुम हिलाकर ही अपने मालिक पर अपना प्रेम प्रकट कर देता है। मजाल है कि दुम हिलने से किसी और भाव का पता चले। यह दुम बी० ए० पास आदमी से कम अक़्लमंद नहीं होती। मालिक के दोस्त को देखकर भी हिलती है मगर यों ही बराय नाम। इस हिलने में शुभ-आगमन का भाव होता है, स्नेह और हर्ष का नहीं।

इस हरजाई दुम की कहाँ तक प्रशंसा की जाये? जब चार-पाँच कुत्ते साथ पाले जाते हैं और जब वे एक-दूसरे के साथ खेलते हैं या लड़ते हैं तब दुमों के सामाजिक भाव का पता चलता है। जहाँ कई दुमें एक साथ जमा हो जाती हैं वहाँ उनके लोक-विचार का पता चलता है। ऐसी जगह कुत्ते संयम-शील होते हैं और उनकी शरीफ़ दुमें अपनी मर्यादा की सीमा को कभी नहीं लाँघती। ग़ुस्सा हो या ख़ुशी, लड़ाई हो या खेल,

इन कुत्तों की दुमें क़ायदे ही से हिलती हैं। हड्डी चबाने वाला कुत्ता यहाँ अहिंसा की साधना करता है। बंदरों के पीछे भागने वाला कर्मयोगी यहाँ अकर्मण्य होकर रह जाता है। और वे दुमें जो बाहर हिलती रहती हैं या खड़ी रहती हैं, यहाँ ज्यादातर तटस्थ भाव से नीचे ही गिरी रहती हैं। मगर इनमें से एक कुत्ता जब अपने परिवार के संगठन की सीमा से दूर होता है तो दूसरे अपरिचित कुत्ते को देखकर इस तरीक़े से दुम हिलाता है गोया फाड़ खायेगा। यहाँ पर उसकी दुम उसके ग़र्राने के साथ-साथ हिलती है। यहाँ पर कुत्तों की विश्व-मैत्री का भाव ग़ायब हो जाता है। या तो दोनों एक दूसरे पर टूट पड़ते हैं या दुम हिलाकर अपने सुलहनामे पर दस्तखत करते हैं।

प्राचीन सभ्यता के मानने वाले वज़ादार कुत्तों की दुमें हमेशा लंबी होती थीं, होती हैं और होती रहेंगी। मर्द की लंबी नुकीली मूछें, औरत के लंबे बाल और कुत्तों की लंबी और टेढ़ी दुमें हिंदोस्तान की पुरानी तहज़ीब के निशान हैं। परन्तु जिस प्रकार मनुष्य प्रगतिशील होता है उसी प्रकार कुत्ता भी परिवर्त्तनशील होता है। समय के साथ-साथ चलता है और अपने को कभी गँवार और दक़ियानूसी नहीं साबित होने देता। उसका नतीजा यह है कि वह अपनी दुम कटा कर आजकल के क्लीन-शेवन शरीफ़ आदमी का साथ देता है। मगर यह कटी हुई दुम भी बराबर हिला करती है। अगर यह न हिले तो कुत्ता कैसा? इस कटी दुम में लंबी दुम वाली उदारता के लक्षण तो नहीं होते पर हाँ शराफ़ों का पाखंड कूट कूट कर भरा रहता है। हिलती थोड़ी-बहुत जरूर है मगर छोटी होने की वजह से इसका पता चलाना मुश्किल होता है कि इस हिलने में हिंसा है या अहिंसा। इस क़िस्म की दुम वाला कुत्ता दुम हिलाते हुये धीरे-धीरे आगे बढ़ता है। अजनबी

इसको प्रेम ही का भाव समझता है जब तक कुत्ता उसकी पतलून को फाड़ नहीं डालता। वाक़या है कि दुम कट जाने पर खतरनाक हो जाती है। मगर बग़ैर हिले नहीं मानती।

मगर महज़ दुम के तेवरों से होता ही क्या है? इनसे किसी कुत्ते की मर्यादा का पता नहीं चलता। उसके कुल की मर्यादा बहुत बड़ी चीज़ है। जिसे आजकल हम 'ब्रीड' कहते हैं। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र मनुष्यों ही में नहीं होते, कुत्तों में भी होते हैं। ब्राह्मण-कुल वाला कुत्ता अपनी शान अलग रखता है। उसमें संयम होता है और वह हरएक के हाथ का बनाया भोजन नहीं खा सकता। क्षत्री-कुल वाला कुत्ता अपने शिकार ही का मांस खाता है। वैश्य-कुल वाला कुत्ता हलवाइयों की दूकानों ही के नीचे रहता है। और शूद्र-कुल वाला कुत्ता नालियों में घूमता रहता है। मगर इनके अलावा कुत्तों के और भी कई गोत्र हैं। स्पेनियल, कौकर, एलसेशिन, वग़ैरह कुत्तों के कुलों के नाम हैं। हाँ, यह ज़रूर है कि आधुनिक युग का कुत्ता एक आज़ाद क़िस्म का जानवर है जो अपनी असली क़ीमत चाहता है। उसे इंसान के सब आराम चाहिये, मकान, कपड़ा, खाना और पहाड़ की सैर। पहाड़ पर किसी महाराजा के आराम-तलब कुत्ते को देखकर एक साहब जो बहुत मसखरे थे बोले, "अगले जन्म में कुत्ता बनने के लिये अच्छे कामों की जरूरत है या बुरे कामों की?" कुत्ते ही इसका जवाब दे सकते हैं। उन्हीं से पूँछा होता।

मगर कुछ भी हो, कुत्तों का खानदान अच्छा हो या बुरा, उनके चेहरों से भी उनके मिज़ाज का काफ़ी पता चलता है। कई क़िस्म के कुत्ते होते हैं और उनके चेहरे भी अलग-अलग होते हैं। एक तो वह कुत्ता होता जो दरवाजे की चौखट पर हमेशा सोता रहता है। कोई अंदर जाये या बाहर आये उसे

किसी पर बिलावजह शक नहीं होता। वह सोचता है शक बुरी चीज़ है और इंसान ऐसे शरीफ़ जानवर पर यों ही शक करना ठीक नहीं है। दो मर्तबा खाना पाने के बाद वह उस चौखट ही को अपनी दुनिया समझता है और वहीं शांतिपूर्वक सोता है। अगर नींद खुली और कुछ गुस्सा आया तो ज़रा सा गुर्रा देता है और फिर आँखें बंद कर लेता है। चेहरे पर शांति, क्षमा और त्याग के ही भाव रहते हैं। न कान खड़े होते हैं और न ज़्यादा दुम हिलती है। और न कभी भागता है ज़ोर से। ख़रामा-ख़रामा घर के भीतर जाता है और बाहर आता है।

दूसरे क़िस्म का कुत्ता वह होता है जो किसी अजनबी को देखकर न भौंकता है और न काटता है। बड़ी शराफ़त से दुम हिलाता रहता है। पीछे-पीछे घूमता है मगर शक की निगाह से ही उस आदमी को देखता रहता है। जब तक वह आदमी घर से बाहर नहीं चला जाता वह उस पर अपनी कड़ी नज़र रखता है। ऐसे कुत्ते के चेहरे पर शराफ़त और अनुभव दोनों नज़र आते हैं। उसमें चाणक्य का चातुर्य रहता है।

वह कुत्ता जो अपने मालिक के मकान की तरफ़ किसी को क़रीब आता देखकर भौंकने लगता है और रुकता नहीं, अपनी ज़ात का निराला होता है। दुनिया इधर से उधर हो जाये मगर वह अपने दरवाज़े पर ही खड़ा-खड़ा भौंकता रहता है। भौंकने की रफ़्तार और उसका शोर बराबर एक से रहते हैं। ऐसा कुत्ता अपनी चौखट के नीचे नहीं उतरता मगर आनेवाले को और आगे नहीं बढ़ने देता। जब तक मालिक अंदर से आकर दरवाज़े पर खड़ा नहीं हो जाता, वह भौंकता ही रहता है। उसके चेहरे पर आत्म-रक्षा का भाव अंकित रहता है। एक साहब की ससुराल में ऐसा ही एक कुत्ता पला था।

बेचारे बीवी से मिलने गये थे मगर दो घंटे तक बाहर ही खड़ा रहना पड़ा। मगर जैसे ही भीतर घुसे वही कुत्ता उनके पैरों पर लोटने लगा। दो घंटे में उन्हें पहचान पाया।

मगर यह तो कुछ भी नहीं है। एक और क़िस्म का कुत्ता होता है जो मौन-व्रत धारण किये रहता है और न भोंकता है, न दुम हिलाता है। अक्सर ऐसे कुत्ते के दर्शन अंग्रेज़ अफ़सरों की कोठियों के हाते के अंदर होते हैं। देखने में बड़ा शांति-प्रिय और गंभीर लगता है। अभी उस दिन की बात है एक मेरे मित्र अपनी बंदूक की लाइसेंस के सिलसिले में एक अफ़-सर से मिलने गये। फाटक पर कोई नहीं था। वे अंदर घुसे कि शायद कोई चपरासी या नौकर दिख जाये। अभी बरामदे तक बढ़े ही थे कि नमालूम कहाँ से एक काला कुत्ता भोंकता हुआ उनकी तरफ़ दौड़ा। पहले तो वे खड़े रहे मगर कुत्ते के तेवर देखकर भागे। भागना था कि कुत्ते ने हमला किया। पीछे से रेशमी कोट फट गया और पैर के मोज़े चिथड़े हो गये। इस गड़बड़ में कुछ जरूरी काग़ज़ात भी गिर गये। बेचारे सीधे-सादे आदमी हैं। घर लौट कर दूसरे दिन बंदूक बेच डाली। कहने लगे, कौन लाइसेंस ले और जान खतरे में डाले।

मगर आजकल के कुत्तों में सबसे बड़ी इज्ज़त रखने वाला कुत्ता न तो चौखट पर सोता है और न फाटक पर भोंकता है। वह किसी शरीफ़ और अमीर रमणी की गोद में लेटता है। अक्सर ग़ौर करने से यह पता लगा है कि यह कुत्ता औसत दर्जे के हिंदुस्तानी से कहीं ज्यादा अंग्रेजी जानता है और समझता है। चाहे वह किसी हिंदुस्तानी के यहाँ पले या किसी अँग्रेज के यहाँ परवरिश पाये। उसकी मादरी ज़बान अँग्रेजी ही होती है। अँग्रेजी में बोली गई बातों को वह खूब समझता

है। और यही वजह है कि अँग्रेज़ी में उसे कितना ही डाँटिये वह बुरा नहीं मानता। हिंदी-उर्दू तो ख़ैर बिलकुल जानता ही नहीं। बातें करके देखिये। उसके चेहरे से यही लगेगा कि उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा है। और कहीं कोई उसे देशी ज़बान में डाँट दे तो फ़ौरन काट खाये। इस कुत्ते में रईसों की नज़ाकत, लताफ़त और तकल्लुफ़—सब हैं। उम्दा से उम्दा पहनता है और उम्दा से उम्दा खाता है। बीमार हो जाये तो उसके इलाज में सैकड़ों ख़र्च हो जाते हैं। एक अच्छा ख़ासा जेंटलमैन ऐट लार्ज है जो न चूहों और गिलहरियों का शिकार करता है और न बिल्लियों के पीछे भागता है। वह ख़ुद रईस है और रईस के ड्राइंगरूम की ज़ेबाइश है। लेडीज़ अपनी गोदों में उसे लिटाती और प्यार करती हैं। और जिन जगहों में राजे-महाराजे उठते-बैठते हैं वहाँ पर वह उनका साथ देता है। और रही और कुत्तों की बात, उनको तो वह कुत्ता ही नहीं समझता।

यह हुये शहरी कुत्ते जिनकी परवरिश शहरों में होती है। इनकी दुम हिलाने से लेकर इनके भोंकने तक से शहरियत का पता चलता है। मगर एक होता है बेचारा गाँव का देहाती कुत्ता जिसकी दुम हिलाने और भोंकने का मतलब कोई आज तक नहीं समझ पाया है। शहर के आदमियों को दूर से देख कर ही भोंकना शुरू कर देता है। पीछे-पीछे भोंकता चलता है मगर ज़रा फ़ासले पर रहता है। जानता है शहरवाले ख़तरनाक होते हैं, नमालूम क्या ज़हर उगलें। ज़रा शहरवाले ने यों ही हाथ से पत्थर उठा कर फेंका कि कई फ़र्लांग पीछे भाग जाता है। मगर फिर भोंकने लगता है। बड़ा सीधा होता है। न दुम हिलाना जाने क़ायदे से और न काटना जाने। सवाल यह है कि फिर कुत्ते का जन्म ही क्यों लिया? नहीं; वजह यह

है कि उसे भोंकने ही में मज़ा आता है। सूनसान गाँव में रात भर यों ही भोंकता रहता है। मीलों उसकी आवाज़ सुनाई देती है। खाने का कुछ दे दीजिये सब खा लेता है। दरिद्र रूप बना कर याचक-भाव से यह गाँव का कुत्ता दूसरी पूरी के इंतजार में इस अल्लहड़पन से अपनी टेढ़ी दुम को हिलाता है और कानों को आड़े-तिरछे इस तरीक़े से खड़ा करता है कि उसे और भी पूरियाँ मिल जाती हैं। अपने को ग़रीब और अछूत समझकर वह आपके क़रीब न आये मगर वह वहीं आपके पास ही सड़क पर समाधि लगाकर साधु-भाव से बैठ जायेगा।

कुत्ता तो फिर कुत्ता ही है, चाहे शहर का हो या गाँव का। समझ में नहीं आता कि उसकी टेढ़ी दुम को लोग इतना बुरा-भला क्यों कहते हैं। कहते हैं कि बारह बरस की कोशिश के बाद भी वह टेढ़ी ही रहती है। रहे, हमारा क्या बिगड़ता है? अगर कुत्ते की दुम टेढ़ी न होती तो वह उसे आसानी से हिलाता कैसे? इसके अलावा उसे उस पर नाज़ भी तो है। दूसरी बात यह कि उसके ग़ुर्राने से लोग न मालूम क्यों चिढ़ते हैं? यथार्थ में ग़ुर्राने की क्रिया से कई प्रकार के भाव पैदा होते हैं। कुत्ता जब तक बैठे-बैठे ग़ुर्राता है तब तक वह शराफ़त से डाँटता है। जहाँ खड़ा होकर ग़ुर्राया कि समझिये ग़ुस्से में आगया है। किसी अपरिचित कुत्ते को देखकर जब कभी कोई कुत्ता दो गज़ के दायरे में तिरछा घूम-घूम कर ज़ोर-ज़ोर से ग़ुर्राये, वह दूसरा ग़ुर्राना है। एक क़िस्म का और ग़ुर्राना होता है जब कुत्ता अपने मालिक के बच्चों के साथ या और अपने साथियों के साथ खेलना चाहता है। यह ग़ुर्राना स्नेहसूचक होता है। कुत्ते बच्चों को बच्चा ही समझते हैं। उन्हें एक छोटे, असहाय बालक पर हमेशा दया आती है। ख़ैर, वह

गुर्राना हो या दुम हिलाना हो, भौंकना हो या कान खड़े करना हो, खेलना हो या किसी के पीछे भागना हो, हर बात में कुत्ता तेवर दिखाता है। इंसान चाहे उसे "टामी" कहे या "जैक" या "सीजर" या "पंच", उसे इसकी बिल्कुल परवाह नहीं। इन नामों से उसके व्यक्तित्व का क्या संबंध ? कुत्ते की हैसियत से वह एक आज़ाद जानवर है जिसकी दुनिया में इज्ज़त है और जिसकी मूक-भाषा और भाव-भंगी को समझने के लिये एक बार किसी विद्वान को कुत्ते का जन्म लेना ही पड़ेगा।

नाम बड़े दर्शन छोटे

अकसर नाम बड़े होते हैं और दर्शन छोटे होते हैं। मगर इसके साथ यह भी है कि अकसर दर्शन बड़े होते हैं और नाम छोटे होते हैं। लोग समझ बूझकर कभी नाम नहीं रखते। अभी उस दिन की बात है मैं बनारस से कलकत्ते जा रहा था। रेल में एक महाशय मेरे पास ही बैठे थे जिनसे कई घंटे गप-शप होती रही। इस क़दर बेतकल्लुफ़ी बढ़ी कि उन्होंने अपनी टोकरी से संतरे और केले निकाल निकाल मेरी बेहद ख़ातिर की। जब खाने का समय आया तो उन्होंने नाश्तेदान से खाना निकाल कर मेरे सामने रख दिया। यहाँ न टोकरी थी और न टोकरी का सामान। सिगरेट का एक पैकट और एक माचिस ज़रूर जेब में पड़े थे। मैंने सिगरेट पेश की मगर पता चला कि वह सिगरेट पीते ही नहीं। मैं बड़ा शर्मिंदा हुआ। ख़ैर जब पटना क़रीब आया जहाँ उन्हें उतरना था तो मुझे याद आया कि मैंने उनका नाम तो पूछा ही नहीं। मैंने कहा, "हाँ, अपना नाम तो बताइये।" वह बोले, "जी, मेरा नाम ? मुझे तोताराम कहते हैं।" इतना कह कर वह होलडाल समेटने

लगे। उन्हें क्या मालूम कि इस नाम से मेरे मन पर क्या आघात पहुँचा। जब तक पटना स्टेशन नहीं आया मैं उन्हें देख देखकर यही सोचता था ऐसे शरीफ़ और पढ़े-लिखे सूरत-दार आदमी का नाम तोताराम किस तरीक़े से हो सकता है ? गोल चेहरा, गोरा रंग, सुनहरी ऐनक, चेहरे पर मुस्कुराहट, आँखों में शील, मुख पर गाम्भीर्य, गर्दन में खूबसूरत क़ीमती टाई, जेब में फ़ाउंटन पेन और निराला वाक्-चातुर्य—इन सब बातों के होते हुये भी नाम तोताराम ? मैं सोचता ही रह गया और वह हाथ मिलाकर पटना में उतर गये।

नाम तो अपनी अपनी पसंद की बात है। जिसका जो जी चाहे अपना नाम रक्खे। मगर मुश्किल तो यह होती है कि जैसे ही हम पैदा होते हैं वैसे ही फ़ौरन हमारे माँ-बाप हमारा नाम रख देते हैं। ज़रा भी मौक़ा नहीं देते कि हम भी कुछ सोच-समझ लें। बच्चा पैदा हुआ कि फ़ौरन उसका नाम रख दिया गया। मगर तुर्रा यह है कि नाम-करण संस्कार के पश्चात भी बरसों एक बालक अपने असली नाम का मुस्तहक़ नहीं हो पाता। कोई उसे "लल्लू" कहता है कोई "मुन्नू", "मन्नू", "जग्गू," "बच्चा" या "रग्घू"। सही नाम से न पुकारकर बालक को उसके बिगड़े हुये नाम से पुकारना उसकी बेइज्ज़ती करना है। हालाँकि जो नाम उसे मिलता है उसे वह स्वीकार करता है पर अपने नाम के ऐसे अपभ्रंश-रूप से उसके मासूम, नन्हें दिल को बड़ी चोट पहुँचती है। अव्वल तो नाम उसकी पसन्द का नहीं और फिर उस पर यह तुर्रा कि उसका भी बहुत बिगड़ा हुआ रूप ! इस प्रकार के नाम बालक-समाज की मर्यादा पर रोज़ अत्याचार करते हैं। अक्सर घरों में ये नाम मनुष्य का साथ सारी उम्र नहीं छोड़ते। छै बच्चों के बाप को या एक छै बच्चे वाली बीबी के मर्द को जिसकी अवस्था

लगभग पैंतालीस बरस की हो, "लल्लू" कह कर पुकारने में क्या अक़्ल है? यह तो उसकी बेइज्ज़ती करना है। "लल्लू" शब्द से ऐसे मनुष्य की व्यक्तिगत मर्यादा का क्या अंदाज़ा हो सकता है?

इंसान भी अजब चीज़ है कि जहाँ से चाहता है अपने नाम चुन लेता है। काले और गोरे रंग ही नहीं होते, नाम भी होते हैं। यह ज़रा न ख्याल कीजियेगा कि यह नाम रंग के हिसाब से होते हैं। इसके अलावा ऐसे नाम वालों को हमेशा शरीफ़ ही पाया है। इन नामों में मानव-समाज की एकता का भाव है। औरतों को खूब सूझी। उन्होंने फूलों के नाम रख डाले। मसलन चंपा, चमेली, बेला, गेंदा, केतकी, नर्गिस वगैरह। मर्दों में गुलाबसिंह बहुतों के होते हैं। मगर मैं यह कहता हूँ कि और फूल-पत्तों ने क्या बिगाड़ा है? जिस तरह रामकली, देवकली वगैरह नाम होते हैं, "मटर की फली," "मूँगफली" और "मूली" ऐसे नामों में क्या हर्ज? स्त्रियाँ चाहें तो इन नामों को रख लें। मर्दों के नामों में भी ताड़, शीशम, चीड़, बरगद, पीपल आदि नाम जोड़े जा सकते हैं। मुमकिन है पचास-साठ बरसों में बरगद खाँ, शीशमसिंह, पीपल प्रसाद, गोभीनाथ, बंडाराम, आलूदीन, बैगनबक्श, कद्दूमल, टमाटरलाल या कटहलदत्त ऐसे नाम भी लोग रखने लगें। क्या ताज्जुब स्त्रियाँ भी इसी क़िस्म के नामों को पसंद करें, मसलन, श्वेतमूली, सेमवती, फली, सागवती, सिंघाड़न, बैगन प्रिया, कुम्हड़न, गोभन, चकुंदर-प्रभा, कटहलशिखा, बेरकुमारी, बेलकुमारी, कैथारानी, घासवंती और जड़-ज्योत्सना। इन नामों में क्या हर्ज? हाँ, यह ज़रूर है कि अगर किसी अखबार के विवाह-विज्ञापन वाले कालम में यह नाम आजकल छापे जायें तो सैकड़ों मर्दों और औरतों की शादियाँ कभी न हों। कुछ

बरसों के बाद ही ये रिवाज में आ सकते हैं। मगर जब तक अभी से कोशिश न की जायेगी आयन्दा कामयाबी नहीं हो सकती।

मशहूर शहरों के नामों को अपनाने में कोई हर्ज नहीं, मगर क्या ज़रूरत है कि मेरे मकान के पास रहने वाला घसियारा अपना नाम मथुरा रक्खे ? नाम सुनते ही हरी-हरी घास का ढेर आँखों के सामने आ जाता है। या क्या ज़रूरत है कि हमारा अंडेवाला अपना नाम काशी रक्खे ? नाम सुनते ही गन्दे अंडे याद आ जाते हैं। उस दिन जो मोची मेरे जूतों का हाफ़सोल बना रहा था, उसका नाम अजोध्या था। उसके नाम के साथ महकते चमड़े और छोटी कीलों का कोई सम्बन्ध न देख पड़ा। अगर ऐसा ही है तो लखनऊ, अलाहाबाद, दिल्ली, लाहौर, कलकत्ता और बम्बई ऐसे शहरों के बजाय लखनवी, अलाहाबादी, देहलवी, लाहौरी, कलकत्ते वाले, और बम्बई वाले न कह कर, हम ऐसे नाम भी तो रख सकते हैं जैसे लखनऊबेग, अलाहाबादराम, दिल्ली खाँ, लाहौरसिंह, कलकत्तादत्त और बम्बईचन्द। इन नामों में क्या हर्ज ? रिवाज में नहीं हैं तो बाद में हो जायेंगे।

मगर जनाब, शरीफ़ इंसान की ज़ुरअत को तो देखिये कि देवताओं, देवियों और महापुरुषों के नामों को भी नहीं छोड़ता। उन्हें भी खँगाल डालता है। शिवशंकर नाम वाला आदमी अगर बिलियर्ड खेले तो कैसा लगे ? विष्णु नाम एक पनवाड़ी का कैसे हो सकता है ? महाशंकर अगर शक्कर की कंट्रोल शाप रखता है तो ग़लती करता है। अर्जुन नाम रख कर अगर कोई दुबला-पतला मजनू-सदृश्य प्राणी आपके सामने सिगरेट का धुँवा उड़ाये तो महाभारत के अर्जुन का क्या पता चल सकता है ? या किसी अस्पताल में परशुराम नाम के कंपाउंडर को देख कर आपको रामायण के परशुराम का क्या पता चल

सकता है ? कृष्ण नाम के आदमी को अंग्रेज़ी सूट पहने डांस करते देखकर आपको सूरदास के कृष्ण कहाँ याद आ सकते हैं ? इसी तौर से महादेव चाय वाले, व्यास हलवाई, शंकर बनिये और ब्रह्मा इक्के वाले को देख कर आपकी श्रद्धा ग़ायब हो जायेगी। इसी तरीक़े से स्त्रियों के नाम भी हैं। उस दिन पार्वती नाम की लड़की को लिपस्टिक लगाये नाचघर में देखा। तबियत झुंझला गई। पार्वती नाम ही क्यों रक्खा ? किसी अप्सरा का नाम रखती। अप्सराओं की कमी कब है हमारे प्राचीन इतिहास में ? दमयंती नाम सुन कर मैं समझा था कि "नल और दमयन्ती" वाली शीलवान दमयन्ती होगी। देखा तो नाक चपटी मिली और मोटे-मोटे ओंठ। भला क्या जरूरत थी ऐसा नाम रखने की। कुछ और नाम रख लेती। सीता नाम सुन-कर रामायण की सीता का आदर्श चरित्र याद आ जाता है। उसका त्याग और उसका पतिव्रत-धर्म आँखों के सामने नाचने लगते हैं। एक दिन इस युग की एक सीता मिली। अपने आदमी से लड़ रही थी और ऐसी-ऐसी लच्छेदार गालियाँ दे रही थी कि उसका आदमी शर्म से गड़ा जा रहा था। इतना बिगड़ी कि आदमी से कह दिया, "घर से निकल जाओ।" सीता नाम ही क्यों रक्खा ? भली औरत चाहती तो शूर्पनखा नाम रख सकती थी। अच्छा ख़ासा ऐतिहासिक नाम है ! शकुन्तला ऐसे नाम को सुन कर कालिदास ही की शकुन्तला याद आती है। पवित्र शकुन्तला, उसकी सखियाँ, मृग-छौने, आश्रम की शान्ति, दुर्वासा का श्राप, दुष्यन्त का प्रेम-अभिनय, वियोग, मिलन—ये ही चित्र सामने आते हैं। अभी पिछले शनीचर की बात है। एक मित्र के मकान पर मैं चाय पी रहा था। कुछ देर बाद जब मैंने जाने की आज्ञा माँगी तो मेरे मित्र बोले "भई, ज़रा और ठहरो, शकुन्तला आती होगी।"

मैंने कहा, "कौन"? इस पर बोले "स्त्री के सब गुण उसमें भरे हैं। तस्वीर है तस्वीर!" खैर साहब, चालीस मिनिट की प्रतीक्षा के बाद शकुन्तला टपक पड़ीं। कानों में लम्बी-लम्बी बालियाँ थीं, बाल कटे थे, मुँह पर पाउडर था, और हाथ में जलती हुई कैवेंडर सिगरेट का तीन चौथाई टुकड़ा था। आते ही "हलो और "डिअर" और 'गुडनैस मी" शुरू हो गई। अंग्रेजी के अलावा कोई और भाषा न जानती थीं। मगर नाम शकुन्तला था। मुझे गुस्सा भी आया और हँसी भी। ऐसी शकुन्तला को देखकर दुर्वासा का श्राप ही केवल याद आ सकता है।

इन नामों के अलावा भी कुछ नाम ऐसे हैं जिनसे हमें रोज धोखा होता है। राय साहब घासीराम को देखकर मुझे इस बात पर गुस्सा आया था कि इतनी इज्जत वाले, पैसेवाले, शरीफ़ राय साहब ने इतना भद्दा नाम क्यों रक्खा? सरकार जिसको खिताब दे उसका ऐसा मामूली नाम! मगर उस दिन जब अजीत नाम के एक महाशय एक बन्दर से डर कर भागे थे, तो मुझे और भी गुस्सा आया। हमारे मुहल्ले में एक लड़का था जिसका नाम कुल-दीपक था मगर था अव्वल दर्जे का आवारा। माँ-बाप अक़्लमन्द होते तो बदल कर कुल-कलंक नाम रख देते। इसी तरीक़े से कैलाशपति नाम वाला आदमी अगर दोमँजले मकान में भी न रहे तो उसके नाम पर धिक्कार है।

दुनिया में कोई नाम ऐसा नहीं है जो हमेशा सही होता हो या जिसका अर्थ रखनेवाले पर पूर्णरूप से लागू होता है। पाश्चात्य के नाम हों या यहाँ के। ड्रिकवाटर, फौक्स, बुल, बुलक, हैनकौक, फिश, मून, स्प्रिंग, वोल्फ़, बर्ड वग़ैरह विचित्र नाम हैं। मगर इनके रखने वाले, मुमकिन है, इसके बिल्कुल विपरीत हों। हमारे यहाँ भी मैना, तोता ऐसे नाम होते हैं,

घसीटा, कल्लू, बुद्ध, तोती, चैतू, कबरा, छेदा, अली, मल्लू इत्यादि भी वे नाम हैं जो नीचे श्रेणी के लोगों में मशहूर हैं। गंगा और जमुना और गंगाराम और जमुनाप्रसाद से लेकर बाल्टीवाला और टौडीवाला तक नामों का क्षेत्र फैला है। जिसका जो जो चाहे वह अपना नाम रक्खे। नाम बुरा से बुरा हो सकता है और अच्छा से अच्छा। नाम गढ़ने वालों ने इंसान के लिये काफ़ी गुंजाइश रखी है।

ख़ुदा ने चाहा तो हिंदुस्तानिओं और अंग्रेज़ों के मेलजोल और उनकी मिली भगत से इस मुल्क में बीस-पचीस साल में बड़े-बड़े विचित्र नाम पैदा हो जायेंगे। उस ज़माने के अख़बारों में ऐसे ही नाम छपेंगे। मसलन "सर रमेश बुलडाग और लेडी कमला बुलडाग सिमले में पहुँच गये।" या "मि० जनार्दन किश की शादी मिस जमना क्रौकोडाइल से हो गई।" या "फ़लां मीटिंग में मिस्टर अबदुल्ला हैनकौक की जोरदार तक़रीर।" जब हिन्दुस्तानिओं के ऐसे नाम हो जायेंगे तब तो प्राचीन नामों का पता भी न चलेगा।

ज़माने का हाल बुरा है। जो कुछ न हो जाये वह थोड़ा है। मुमकिन है हमारे आपके नाम भी बिल्कुल बदल जायें। देखा जायेगा जब वख़्त आयेगा। जब तक घासीराम नाम के राय साहब हो सकते हैं, तोताराम नाम के शरीफ़ आदमी हो सकते हैं और घसीटे सेठ नाम वाले करोड़पति तब तक तो फ़िक्र करना फ़िज़ूल है। यह नाम जल्दी ग़ायब नहीं हो सकते। अभी कुछ बरस और चलेंगे। मशहूर विद्वान प्रोफ़ैसर कपटदास हठधर्मी एम० ए० कैंटब का भी यही कहना है। अब हमें किस बात की चिंता?